* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

मूल्य ८ रुपये

भगवती (शताक्षी) शाकम्भरी

देवताओंद्वारा भगवान् श्रीरामपर पुष्पवृष्टि

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जनानहेतुनान्यानपि तारयन्तः॥

वर्ष ८९ | गोरखपुर, सौर कार्तिक, वि० सं० २०७२, श्रीकृष्ण-सं० ५२४१, अक्टूबर २०१५ ई० | संख्या १०

पूर्ण संख्या १०६७

देवताओंद्वारा भगवान् श्रीरामकी स्तुति

जय कृपा कंद मुकुंद द्वंद हरन सरन सुखप्रद प्रभो।
खल दल बिदारन परम कारन कारुनीक सदा बिभो॥
सुर सुमन बरषहिं हरष संकुल बाज दुंदुभि गहगही।
संग्राम अंगन राम अंग अनंग बहु सोभा लही॥
सिर जटा मुकुट प्रसून बिच बिच अति मनोहर राजहीं।
जनु नीलगिरि पर तड़ित पटल समेत उडुगन भ्राजहीं॥
भुजदंड सर कोदंड फेरत रुधिर कन तन अति बने।
जनु रायमुनीं तमाल पर बैठीं बिपुल सुख आपने॥
कृपादृष्टि करि बृष्टि प्रभु अभय किए सुर बृंद।
भालु कीस सब हरषे जय सुख धाम मुकुंद॥

[श्रीरामचरितमानस, लंकाकाण्ड]

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,१५,०००)

कल्याण, सौर कार्तिक, वि० सं० २०७२, श्रीकृष्ण-सं० ५२४१, अक्टूबर २०१५ ई०

विषय-सूची

विषय **पृष्ठ-संख्या**

चित्र-सूची

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

एकवर्षीय शुल्क
अजिल्द ₹ २००
सजिल्द ₹ २२०

पंचवर्षीय शुल्क
अजिल्द ₹ १०००
सजिल्द ₹ ११००

विदेशमें Air Mail सजिल्द शुल्क — वार्षिक US$ 45 (₹ 2700), पंचवर्षीय US$ 225 (₹ 13500) — Us Cheque Collection Charges 6$ Extra

संस्थापक—**ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका**
आदिसम्पादक—**नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार**
सम्पादक—**राधेश्याम खेमका**, सहसम्पादक—**डॉ० प्रेमप्रकाश लक्कड़**
केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालय के लिये गीताप्रेस, गोरखपुर से मुद्रित तथा प्रकाशित

website : **www.gitapress.org** | e-mail : **kalyan@gitapress.org** | ✆ **(0551) 2334721**

सदस्यता-शुल्क—**व्यवस्थापक—'कल्याण-कार्यालय', पो० गीताप्रेस—२७३००५, गोरखपुर को भेजें।**
Online सदस्यता-शुल्क-भुगतानहेतु-www.gitapress.org पर **Online Magazine Subscription** option को click करें।
अब 'कल्याण' के मासिक अङ्क kalyan-gitapress.org पर निःशुल्क पढ़ें।

कल्याण

याद रखो—हमारे सोचने या करनेसे दूसरे किसीका अमंगल नहीं हो सकता। अमंगलरूपी फल मिलता है अपने पूर्वकृत कर्मोंके परिणामस्वरूप। इस स्थितिमें हम जब किसीका अमंगल सोचते या करते हैं, तब हम अपना ही अमंगल करते हैं। हमारा चित्त जब किसी भी दूसरेके प्रति द्वेष रखता है और उसका अमंगल सोचता है, तब उसका प्रभाव हमारे ही जीवनपर पड़ता है। हम जैसा सोचते हैं, वैसा ही अपनेको बनाते जाते हैं।

याद रखो—भगवान्‌के राज्यमें अनेक प्रकारके मंगल हैं और भगवान्‌ने हमको मंगलमय विचार रखनेकी विचित्र शक्ति भी दी है। हम यदि उस शक्तिका सदुपयोग करें तो उससे हमारा तो सुख-आनन्द बढ़ेगा ही, हम दूसरे लोगोंके सुख-आनन्दकी वृद्धिमें हेतु बनेंगे।

याद रखो—जब हम दूसरोंका भला सोचते या करते हैं, तब अपना ही भला करते हैं। भला सोचते-सोचते भला करनेकी प्रवृत्ति बढ़ती है, फिर भला करना ही स्वभाव बन जाता है और जब हम दूसरोंका भला करते हैं, तब उनपर बहुत ही सुन्दर प्रभाव पड़ता है; वे भी बदलेमें हमारा भला सोचने और करने लगते हैं। इस प्रकार परस्पर एक-दूसरेका भला सोचने और करनेसे सहज ही सबका भला होता है। हम भलेके प्रसार-विस्तारके पुण्यकार्यका सौभाग्य प्राप्त करते हैं।

याद रखो—भगवान्‌की दी हुई भला करनेकी शक्ति और समयका जो समयपर पूर्णरूपसे उपयोग करते हैं, उनकी शक्ति और भी बढ़ती है; परंतु जो समयपर शक्तिका सदुपयोग नहीं करते, उनको पछताना ही पड़ता है। शक्ति क्षीण होते-होते नष्ट हो जाती है। अतएव प्राप्त अवसरको खोओ मत, भले कामको कलपर मत रखो। उसे अभी कर लो और करो यथासाध्य पूरे मनसे, यथायोग्य पूरी शक्ति लगाकर। तुम्हें भगवान्‌की कृपा प्राप्त होगी। तुम्हारी शक्ति बढ़ेगी और तुम जगत्‌का कल्याण करनेवाले भगवान्‌के हाथके एक महान् यन्त्र बनकर अपनेको धन्य कर सकोगे।

याद रखो—हम दूसरोंसे सदा यही चाहते और आशा रखते हैं कि सब लोग हमारा भला करें, हमें सुख पहुँचायें और हमारा हित करें। हमारा बुरा कोई न करे, हमें दुःख कोई भी न पहुँचाये और हमारा अहित कोई भी न करे। बस, तुम जो चाहते हो, वही दूसरोंके साथ करना आरम्भ कर दो। तुम्हारी की हुई भलाई अनन्तगुनी होकर तुम्हारे पास वैसे ही लौट आयेगी, जैसे खेतसे बीज बोनेवालेको अनन्तगुना होकर अनाज प्राप्त होता है।

याद रखो—जो अपना सुख, मंगल, हित चाहता है, पर दूसरोंका नहीं चाहता वरं दूसरोंको दुःख पहुँचाता है, उनका अमंगल एवं अहित चाहता है, उसे कभी भी सुख, मंगल, हित प्राप्त नहीं हो सकते। वह एक बार मोहवश भले ही अपनेको ही सुखी मान ले, पर वह सुखी कभी हो नहीं सकता। दूसरोंका अमंगल चाहना अपना ही अमंगल करना है। यह ध्रुव निश्चय है, परम सत्य सिद्धान्त है।

याद रखो—तुम बुरी बात सोचनेके लिये आये ही नहीं हो। भगवान्‌ने तुम्हें मनुष्य-शरीर दिया है सबका सदा मंगल सोचते-करते ही अपना मंगल करनेके लिये और अन्तमें परममंगलमय भगवान्‌की मंगलमयी प्राप्ति करनेके लिये। यही मानवके नाते तुम्हारे जीवनका लक्ष्य है और इस महान् लक्ष्यकी ओर सावधानीके साथ चलते और आगे बढ़ते रहना ही तुम्हारा एकमात्र परम कर्तव्य है। इस महान् लक्ष्यको ध्यानमें रखो और अपने कर्तव्यका पालन करते रहो।

'शिव'

आवरणचित्र-परिचय—

भगवती (शताक्षी) शाकम्भरी

प्राचीन समयकी बात है। दुर्गम नामका एक महान् दैत्य था। उसका जन्म हिरण्याक्षके कुलमें हुआ था तथा उसके पिताका नाम रुरु था। 'देवताओंका बल वेद है। वेदके लुप्त हो जानेपर देवता भी नहीं रहेंगे'—ऐसा सोचकर दुर्गमने ब्रह्माजीसे वर पानेकी इच्छासे उनकी प्रसन्नताके लिये बड़ी कठोर तपस्या की। उसकी तपस्यासे प्रसन्न होकर ब्रह्माजीने उसे दर्शन दिया और उससे इच्छानुसार वर माँगनेके लिये कहा। दुर्गमने ब्रह्माजीसे कहा—'पितामह! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मुझे सम्पूर्ण वेद देनेकी कृपा करें और देवताओंको परास्त करनेकी शक्ति भी दें।'

दुर्गमकी बात सुनकर चारों वेदोंके अधिष्ठाता ब्रह्माजी 'ऐसा ही हो' कहकर अपने लोक चले गये। इसके परिणामस्वरूप ब्राह्मणोंको समस्त वेद विस्मृत हो गये। स्नान, श्रद्धा, होम, श्राद्ध, यज्ञ और जप आदि वैदिक क्रियाएँ नष्ट हो गयीं। सारे संसारमें घोर अनर्थ उत्पन्न करनेवाली अत्यन्त भयंकर स्थिति हो गयी। देवताओंको हविका भाग मिलना बन्द हो गया, जिससे वे निर्बल हो गये। उसी समय उस भयंकर दैत्यने अपनी सेनाके साथ देवताओंकी पुरी अमरावतीको घेर लिया। दुर्गमका शरीर वज्रके समान कठोर था। देवता उसके साथ युद्ध करनेमें असमर्थ होनेके कारण भागकर गुफाओंमें छिप गये और भगवतीकी आराधनामें समय बिताने लगे। अग्निमें हवन न होनेके कारण वर्षा भी बन्द हो गयी। पृथ्वीपर लोग एक-एक बूँद जलके लिये तरसने लगे। घोर अकाल और अनावृष्टिके कारण लोगोंके प्राण संकटमें पड़ गये।

संसारको घोर संकटसे बचानेके लिये ब्राह्मणलोग हिमालयपर्वतपर गये और मनको एकाग्र करके पराम्बा भगवतीकी उपासना करने लगे। लोककल्याणके लिये तपस्यारत ब्राह्मणोंपर भगवती प्रसन्न हुईं। उन्होंने अनन्त आँखोंसे सम्पन्न दिव्य रूपमें उनको दर्शन दिया। भगवतीका वह विग्रह कज्जलके पर्वतकी तुलना कर रहा था। आँखें ऐसी थीं, मानो नीलकमल हों। कन्धे ऊपर उठे हुए थे। विशाल वक्ष:स्थल था। हाथोंमें बाण, कमलके पुष्प, पल्लव और मूल सुशोभित थे। भगवतीने शाक आदि खाद्य पदार्थ तथा अनन्त रसवाले फल ले रखे थे। विशाल धनुष देवीकी शोभामें वृद्धि कर रहा था। सम्पूर्ण सुन्दरताका सारभूत देवीका वह रूप बड़ा कमनीय था। करोड़ों सूर्योंके समान चमकनेवाला वह विग्रह करुणाका अथाह समुद्र था। करुणार्द्रहृदया भगवती अपनी अनन्त आँखोंसे सहस्त्रों जलधाराओंकी वृष्टि करने लगीं। उनके नेत्रोंसे निकले हुए जलसे नौ राततक घनघोर वृष्टि हुई। उस पवित्र जलसे सम्पूर्ण संसार तृप्त हो गया। नदी और समुद्रमें बाढ़ आ गयी। छिपकर रहनेवाले देवता अब बाहर निकल आये।

देवताओं और ब्राह्मणोंने भगवतीकी स्तुति करते हुए कहा—'अपनी मायासे संसारकी संरचना करनेवाली, भक्तोंके लिये कल्पवृक्ष एवं लोककल्याणके लिये दिव्य विग्रह धारण करनेवाली भगवति! तुम्हें कोटिश: प्रणाम है। तुमने सहस्त्रों नेत्रोंसे जलवृष्टि करके इस संसारका महान् कल्याण किया है। अत: तुम्हारा यह स्वरूप 'शताक्षी' नामसे विख्यात होगा। अम्बिके! हम सब भूखसे अत्यन्त पीड़ित हैं, अत: तुम्हारी विशेष स्तुति करनेमें असमर्थ हैं।' भगवती शताक्षीने प्रसन्न होकर ब्राह्मणों एवं देवताओंको अपने हाथोंसे दिव्य फल एवं शाक खानेके लिये दिये तथा भाँति-भाँतिके अन्न भी उपस्थित कर दिये। पशुओंके खानेयोग्य कोमल एवं अनेक रसोंसे सम्पन्न नवीन तृण भी उन्हें देनेकी कृपा की और कहा कि मेरा एक नाम 'शाकम्भरी' भी पृथ्वीपर प्रसिद्ध होगा—'**शाकम्भरीति विख्यातिं तदा यास्याम्यहं भुवि।**' दुर्गाके स्वरूपमें भगवतीने वेदोंको दुर्गम नामक दैत्यसे छीनकर ब्राह्मणोंको देनेका आश्वासन भी दिया। [**श्रीमार्कण्डेयमहापुराण**]
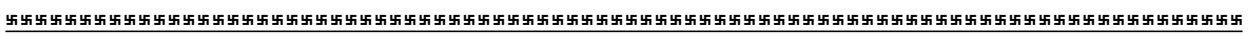
प्रतिग्रह और पापसे भी ऋण अधिक हानिकर है

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

ऋण लेनेवाला व्यक्ति ऋणदाताको जबतक ऋण नहीं चुका देता, तबतक उसका इस लोक या परलोकमें कहीं कभी छुटकारा नहीं हो सकता। मरनेके बाद ऋण लेनेवालेको दूसरे जन्ममें ऋणदाताके माता, पिता, भाई, बन्धु, स्त्री, पुत्र या गाय, बैल, घोड़ा आदि पशुके रूपमें जन्म लेकर ऋण चुकाना पड़ता है। ऋण चुकाये बिना ऋणसे मुक्ति हो ही नहीं सकती, फिर परमपदकी प्राप्ति तो हो ही कैसे सकती है। यहाँ सरकारके राज्यमें तो कानूनके अनुसार तीन वर्षके बाद रुपये लौटानेकी अवधि समाप्त हो जाती है और भूमि, घर आदि स्थावर सम्पत्तिपर रुपया लेकर ऋणका कागज रजिस्ट्रेशन कराया हुआ हो तो बारह वर्षके बाद उन रुपयोंके भी लौटानेकी अवधि समाप्त हो जाती है, किंतु भगवान्‌के यहाँ हजारों वर्ष बीत जानेपर भी ऋणकी इस प्रकार समाप्ति नहीं होती। ब्याज (सूद) तो मूल रुपयोंसे अधिक न तो इस राज्यमें ही मिलता है और न परलोकमें ही। ऋणग्रहीता ऋणदाताका दिल दुखाकर जबरन् रुपयेका आठ आना या चार आना देकर उससे ऋण-मुक्तिका पत्र ले लेता है, तब भी शेष रुपयोंका ऋण ऋणग्रहीताके सिरपर रहता ही है। यदि ऋणदाताको मूलधन पूरा-का-पूरा दे दिया जाय और ब्याजको अनुनय-विनय करके क्षमा करा लिया जाय तो फिर ऋण तो सिरपर नहीं रहता, किंतु ऋणग्रहीता सहायता लेनेके रूपमें उसका उपकृत रहता है। यदि ऋणदाता अपना सर्वस्व भगवान्‌को समर्पण कर दे या वह भगवान्‌को प्राप्त हो जाय तो ऋणग्रहीता भगवान्‌का ऋणी होकर रहता है—जैसे इस लोकमें कोई मनुष्य मर गया और उसका कोई भी उत्तराधिकारी न हो तो उसके धनका स्वामित्व सरकारपर चला जाता है एवं यदि उस मृत मनुष्यका कोई ऋणी है और वह उस ऋणके रुपयोंको सरकारको दे देता है तो वह ऋणसे मुक्त हो जाता है। यदि कोई ऋणदाता मर गया और उसके उत्तराधिकारी—लड़का, लड़की, भाई, बन्धुमेंसे कोई भी जीवित हों तो उनको ऋण चुका देनेसे ऋणग्रहीता ऋणसे मुक्त हो सकता है। यदि ऋणदाता तो जीता है और ऋणग्रहीता मर गया—ऐसेमें ऋणग्रहीताके पिता, पुत्र, भाई, बन्धु या कुटुम्बके लोग ऋणदाताको ऋणग्रहीताका ऋण चुका दें तो ऋणग्रहीता उससे मुक्त हो सकता है, किंतु यदि उसके कुटुम्बवाले ऋण लेनेके समय उसमें शामिल न रहे हों तो ऋण चुकानेवाले उन कुटुम्बीजनोंका ऋणग्रहीतापर उपकार माना जायगा।

दान, दहेज और उपकार—इन तीनोंका अलग-अलग हिसाब है। इसे उदाहरणसे यों समझना चाहिये—

एक धनी वैश्यके एक विवाहिता लड़की थी। उस लड़कीके एक कन्या थी। उस कन्याके विवाहके लिये कम-से-कम दो हजार रुपयोंकी आवश्यकता थी, किंतु उस लड़की और उसके पतिके पास किसी प्रकारका धन नहीं था, अतः लड़कीने अपने धनी पितासे कन्याके विवाहके लिये दो हजार रुपयोंकी इस प्रकार याचना की—'आप मुझे पाँच सौ रुपये तो जो मेरे आपके यहाँ जमा हैं, वे दे दीजिये, पाँच सौ रुपये घरके रीति-रिवाजके अनुसार आप दहेजमें देंगे ही। इनके अतिरिक्त पाँच सौ रुपये आप कन्याके विवाहमें सहायताके रूपमें दीजिये तथा शेष पाँच सौ रुपये ऋणके रूपमें दे दीजिये, जिन्हें मेरे पतिदेव उपार्जन करके चुका देंगे।' इसपर वह वैश्य राजी हो गया और उसके कथनानुसार रुपये दे दिये, जिससे कन्याका विवाह हो गया।

अब इन रुपयोंके सम्बन्धमें यों समझना चाहिये। पाँच सौ रुपये जो लड़कीके पिताके यहाँ जमा थे, वह तो पितापर ऋण था, अतः पिता उस ऋणसे मुक्त हो गया तथा पाँच सौ रुपये जो पिताने दहेजके रूपमें दिये, उनपर उस लड़कीका अपना स्वत्व था, वह उसने पा लिया, अतः उन रुपयोंका किसीके साथ कोई लेन-देन नहीं रहा। पिताने जो पाँच सौ रुपये सहायताके रूपमें

दिये, उनके लिये लड़की पिताकी उपकृत है, किंतु ऋणी नहीं। शेष पाँच सौ रुपये जो लड़कीने ऋणके रूपमें अपने पितासे लिये, उन रुपयोंको लड़की और उसके पतिको चुकाना होगा, चुकानेसे ही वे उस ऋणसे मुक्त हो सकते हैं। यदि इस जन्ममें वे रुपये नहीं चुकाये गये तो उन दोनोंको भावी जन्ममें किसी-न-किसी रूपमें उन्हें चुकाना पड़ेगा।

कोई मनुष्य किसीको दान देता है या किसीकी किसी प्रकारकी सहायता (उपकार) करता है या सेवा करता है तो उस दान या सहायता देने और सेवा करनेवालेको उसकी इच्छाके अनुसार फल मिलता है। यदि वह इस लोकके अथवा परलोकके किसी कामनाको लेकर ऐसा करता है, तब तो उसकी कामनाकी सिद्धि होती है और यदि कर्तव्य समझकर निष्कामभावसे करता है तो उसकी आत्मा पवित्र होकर उस उपकार अथवा सेवाके फलस्वरूप उसका उद्धार हो सकता है। दान या सहायता लेनेवाला और सेवा करानेवाला यदि उसका अधिकारी है—जैसे ब्राह्मणको दान लेनेका अधिकार है, माता-पिता, स्वामी, गुरु आदिका अपने पुत्र, भृत्य, शिष्य आदिसे सेवा करानेका अधिकार है—तो इस अधिकारके अनुसार दान, सहायता, सेवा लेनेवाले व्यक्ति उपकृत नहीं माने जाते। इनके अतिरिक्त जो भी किसीसे दान, सहायता या सेवा स्वीकार करता है, वह उसका उपकृत है, उसके बदलेमें उसकी सहायता, सेवा करना और उसका हित चाहना उस उपकृत मनुष्यका कर्तव्य है। यदि वह अपने इस कर्तव्यका पालन नहीं करता तो यह उसकी कृतघ्नता है। कृतघ्नता भी एक प्रकारका पाप ही है। जैसे पाप करनेवाला दण्डका भागी होता है और वह उस पापका फल भोगकर या ईश्वरके नामका जप, व्रत, उपवास, इन्द्रियसंयमरूप तप, प्राणियोंका उपकार आदि या शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त करके उस पापसे मुक्त हो जाता है, वैसे ही वह कृतघ्न भी पापका फल भोगकर या उपर्युक्त साधन करके पापसे मुक्त हो सकता है। किंतु ऋणी तो ऋण चुकानेपर ही मुक्त होता है, किसी प्रायश्चित्तसे नहीं।

ब्राह्मणके अतिरिक्त अन्य वर्णवालोंको अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रको दान लेनेका अधिकार नहीं है। पर इनमेंसे कोई आपत्तिकालमें यदि ऋण चुकानेके लिये किसीसे सहायताके रूपमें दान लेकर अपना ऋण चुका दे या ऋण छोड़ देनेके लिये ऋणदातासे अनुनय-विनय करनेपर ऋणदाता उसे सहायताके रूपमें ऋणमुक्त कर दे तो वह ऋणसे मुक्त हो सकता है, किंतु उसे सहायता देनेवालेकी अथवा ऋण छोड़ देनेवाले ऋणदाताकी बदलेमें समय-समयपर सेवा-सहायता करना उसका कर्तव्य हो जाता है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो कृतघ्न समझा जाता है। इसीलिये धर्ममें आस्था रखनेवाले क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र दान या सहायता न लेकर ऋण ही लेते हैं; क्योंकि ऋणके रुपये चुकानेका तो उसपर भार रहता है, किंतु सेवा, दान और उपकारका विस्मरण भी हो जाता है, जिससे वे प्रत्युपकार नहीं कर पाते और फलस्वरूप कृतघ्न हो जाते हैं। यद्यपि ऋण और कृतघ्नता दोनों ही अपने-अपने स्थानपर बड़े भारी दोष हैं तथापि उनमें कृतघ्नताका दोष जप, तप, व्रत, उपवास और प्रायश्चित्त आदि करनेसे दूर हो सकता है, किंतु ऋणसे छुटकारा तो ऋणदाताका ऋण चुकानेपर ही होता है।

इसलिये ऋणग्रहीता मनुष्यको जिस-किसी प्रकारसे हो ऋण चुका ही देना चाहिये। यदि ऋण चुकानेके लिये रुपये न हों तो अपने पास भूमि, घर, आभूषण आदि जो कुछ भी हो, उसे देकर ऋणदाताको सन्तुष्ट करना चाहिये। इससे भी ऋण पूरा न हो तो जितना ऋण बचे, उसके लिये ऋणदाताके कथनानुसार हैंडनोट आदि लिखकर संतोष कराये अथवा यदि वह नौकरीपर रखकर अपना रुपया वसूल करना चाहे तो उसकी नौकरी करके भी उसका ऋण चुका देना चाहिये। यदि ऋणदाता नालिश कर दे तो हाकिमसे कह देना चाहिये कि 'मुझे यह रुपया देना है, आप मुझपर डिग्री दे दें।' उसपर भी ऋणदाता सन्तुष्ट न हो और ऋणग्रहीताको कैद कराना चाहे तो उसके संतोषके लिये प्रसन्नतापूर्वक
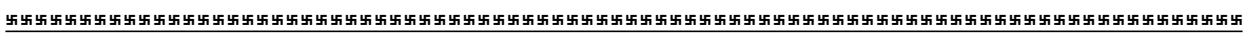
कैद भी भोग लेनी चाहिये, पर किसी भी अवस्थामें ऋणदाताका प्रतिकार नहीं करना चाहिये।

अतएव मनुष्यको, जहाँतक हो, प्रथम तो ऋण कभी लेना ही नहीं चाहिये। यदि परिस्थितिवश लेना ही पड़े तो उसे जी-तोड़ प्रयत्न करके उपर्युक्त प्रकारोंमेंसे किसी-न-किसी रूपमें न्याययुक्त रीतिसे चुका ही देना चाहिये।

अनाथालय, गोशाला, पाठशाला, धार्मिक संस्था, मठ, मन्दिर, क्षेत्र आदिके रुपये, अन्य किसी धार्मिक कार्यके लिये एकत्र किये हुए रुपये तथा ब्राह्मण, विधवा स्त्री, बहन-बेटी आदिके रुपये तो अन्य ऋणोंकी अपेक्षा भी अधिक भाररूप होते हैं। इसलिये अपनेपर कभी आपत्ति आये तो मनुष्यको पहले इस ऋणको चुका देना चाहिये। यदि अपने पाससे भी दान देकर उनके नामसे खातेमें जमा कर लिया गया हो तो भी वही बात समझनी चाहिये; क्योंकि जो रुपये जिसको दिये जा चुके, वे उसीके हो गये। इस विषयमें कोई-कोई व्यक्ति यह मान लेते हैं कि हमारे पिताने मरते समय इतने रुपये धर्मार्थ निकाले थे अथवा हमने ही ये रुपये धर्मार्थ निकाले थे, इनको यदि हम न भी दें तो कोई आपत्ति नहीं है, किंतु यह समझना भूल है; क्योंकि धर्मार्थ निकाले हुए रुपयोंको कोई मालिक बनकर तो जबरन् वसूल करता नहीं, भगवान् भी प्रकटमें आकर माँगते नहीं, इसलिये उन रुपयोंका भार तो अपने ऊपर विशेषरूपसे मानना चाहिये।

ऐसे रुपयोंको या तो कहीं अन्यत्र जमा करके अच्छे आदमियोंका उनपर अधिकार कर देना चाहिये या गोशाला, विद्यालय, मन्दिर आदि जिस कार्यके लिये रुपये जमा किये गये हों, उस कार्यमें तुरंत लगा देना चाहिये अथवा अच्छे-अच्छे आदमियोंका एक ट्रस्ट बनाकर उनके हाथमें सौंप देना चाहिये; क्योंकि मनुष्यपर संकट और विपत्तियाँ तो आती ही रहती हैं और जब विपत्ति आती है, तब पावनेदार तो जबरन् उनको वसूल कर सकता है, किंतु जिसका भगवान्‌के सिवा कोई मालिक नहीं है, उस धनको कौन वसूल करे? अतः वह ऋणीके सिरपर ही रह जाता है। जिस प्रकार लावारिशके धनकी मालिक सरकार होती है, उसी प्रकार धर्मार्थ निकाले हुए रुपयोंके मालिक भगवान् हैं। अतः भगवान् उस ऋणीको इस जन्ममें या भावी जन्ममें सरकारके द्वारा अतिशय कर लगा देना, दैवी प्रकोपके द्वारा धन नष्ट कर देना आदि नाना प्रकारके संकटोंमें डालकर उससे रुपये वसूल करते हैं। अतएव मनुष्यको धर्मार्थ निकाले हुए रुपयोंको गुरुतर समझकर शरीर रहते-रहते ही उपर्युक्त किसी भी प्रकारसे उनका प्रबन्ध कर देना चाहिये।

वन्दनीय विद्वान्

सङ्गः साधुजनेषु भङ्गुरमतिर्भोगेष्वभङ्गा रति-
र्गङ्गोत्तुङ्गतरङ्गरङ्गिणि सदाऽनङ्गद्रुहि त्र्यम्बके।
व्यासङ्गः श्रुतिवर्त्मनि त्वथ परिष्वङ्गोऽनुषङ्गोऽन्वहं
स्वात्मन्येव स वन्द्य एष भुवने कोऽप्येव विद्वन्मणिः॥

जिसमें सज्जनोंके प्रति प्रेम तथा सांसारिक भोगोंके प्रति नश्वरताका बोध रहता है। जटाओंमें विराजमान भगवती गंगाकी ऊँची-उछलती लहरियोंसे आनन्दित होनेवाले कामदेवके शत्रु भगवान् त्रिलोचन (शिव)-में जिसकी सदैव प्रीति प्रवर्धमान रहती है। जो वेद-प्रतिपादित (सनातन-धर्म)-के पथमें स्थित है और जो प्रतिदिन अपने वास्तविक स्वरूप आत्मामें ही रमण करता एवं उसीका अनुभव करता रहता है—ऐसा कोई बिरला विद्वद्वरेण्य ही लोकमें वन्दनाके योग्य होता है।—**प्रो० श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादजी मिश्र 'विनय'**

परमभागवत परीक्षित्

(ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

जिस समय पाण्डव लोग सभी सुकृत कर्मोंका अनुष्ठान करके आत्माके आत्यन्तिक स्वरूपको जानकर, अपने मनको भगवान्‌के चरणाम्बुजमें लगाकर एकान्त गतिको प्राप्त हो गये, उस समय ब्राह्मणोंकी शिक्षासे महाभागवत राजा परीक्षित् पृथिवीका शासन करने लगे। राजा परीक्षित्‌ने जब सुना कि 'कलिकालके प्रभावसे प्राणियोंके मनमें अधर्मकी भावना अधिक हो गयी है, तब धनुष-बाण लेकर रथपर आरूढ़ होकर कुछ सेनाके साथ वे दिग्विजयके लिये चल पड़े। भद्राश्ववर्ष, केतुमाल, भारत, उत्तरकुरु, किंपुरुष आदि देशोंको जीतकर सबसे उन्होंने बलि ग्रहण किया। सर्वत्र विद्वानोंके मुखसे श्रीकृष्ण-माहात्म्ययुक्त अपने पूर्वजोंका महत्त्व सुनते हुए राजाने बड़े प्रसन्न होकर उन्हें महाधन हार, वस्त्र आदि दिया। मार्गमें जाते हुए राजाने देखा कि वृषरूपधारी धर्म एक पगसे चलता हुआ विवश, अश्रुपूर्णमुखी, निस्तेज गौरूपधारिणी पृथिवीको देखकर पूछ रहा है—'हे भद्रे! आप आरोग्य तो हैं? आप निस्तेज हो रही हैं, कुछ मुख-म्लानिसे मुझे मालूम पड़ता है कि आपको कोई आन्तर कष्ट है। क्या किसी अपने दूरस्थ सम्बन्धी या रक्षककी आप चिन्ता कर रही हैं? या तीन पगोंसे रहित मुझे देखकर या वृषलो मोक्ष्यमाण अपने आपको जानकर खिन्न हो रही हैं? अथवा यज्ञभागरहित देवताओं या अवर्षपीड़ित प्रजाओंको देखकर किंवा अरक्ष्यमाण स्त्रियों और आर्त बालकोंको किं वा कुत्सितकर्मा ब्रह्मकुल वेदलक्षणा वाग्देवीको अथवा राजकुलमें कलि-संस्पृष्ट क्षत्रबन्धुओंको या उनसे उन्मूलित राष्ट्रोंको देख एवं खान, पान, स्नान-संसक्त जीवलोकको देखकर आप खिन्न हो रही हैं? किं वा अम्ब! तुम्हारा भार दूर करनेके लिये धृतावतार भगवान्‌के निर्वाणविलम्बित कर्मोंका स्मरण कर रही हो? वसुन्धरे! अपनी व्यथाका कारण बतलाओ, किस कारणसे तुम दुर्बल हो? क्या बलवानोंमें भी बलीयान् कालने तुम्हारे तेजका सौभाग्य हरण कर लिया है? धर्मके इन वचनोंको सुनकर धरणीने कहा—'धर्म! आप सब कुछ जानते हैं। अनन्तकल्याणगुणगणालंकृत भगवान्‌से रहित, कलिसे प्रेक्षित लोकको देखकर अपनेको, आपको, देवताओं, पितरों, ऋषियों, साधुओं एवं सभी वर्णों, आश्रमोंको सोच रही हूँ। अहो! ब्रह्मादि देवाधिदेव बहुकालपर्यन्त जिसके कृपाकटाक्ष-मोक्षकी कामनासे तप करते हैं, वही भगवत्प्रपन्ना श्रीलक्ष्मी अपने सुभगसुन्दर निवासस्थान अरविन्दको छोड़कर, परमानुरागिणी होकर जिसके पादसौभाग्यको भजती है, उन्हींके अब्ज-कुलिश-अंकुश-ध्वजादिसे समलंकृतांगी होकर, तीनों लोकोंका अतिक्रमण करके सुशोभित होकर मैं अभिमानिनी हो रही थी, अन्तमें उन्हीं प्रभुने मुझे छोड़ दिया। जिस परम स्वतन्त्र भगवान्‌ने मेरे भारभूत असुरप्राय राजन्यवर्गोंकी सैकड़ों अक्षौहिणियोंका अपनोदनकर डाला, न्यूनपद दुःस्थ तुम (धर्म)-को अपनेमें स्थापित करते हुए यदुकुलमें रम्यस्वरूपको धारण किया, उस पुरुषोत्तमके विरहको कौन सहन कर सकती है, जिसने अपने प्रेमावलोक, रुचिर हास, वल्गुजल्प आदि चेष्टाओंसे मधुमानिनियोंके मानसहित स्थैर्यको हरण कर लिया, जिसके चरणस्पर्शसे मुझ जड़में भी प्रेमानन्दके उद्रेकसे वनस्पति, लताओंके व्याजसे रोमांच हो उठा, उनका वियोग किसे सहन हो सकता है?'

राजा परीक्षित्‌ने इस तरह वार्तालाप करते हुए वृष और गौको देखा और यह भी देखा कि नृपलिंगधर दण्डहस्त शूद्र दोनोंको ताड़न कर रहा है। मृडालके समान स्वच्छ, दुग्ध वर्ण वृष शूद्रसे ताड़ित होकर एक पादसे खड़े-खड़े काँप रहा है। धर्मदोग्ध्री गाय भी शूद्रके चरणसे ताड़ित होकर दैन्यभावसे अश्रुमुखी होकर,

बछड़ेसे रहित, दुर्बला, बुभुक्षासे घास चरती हुई रुदन कर रही है। सुवर्णालंकारोंसे भूषित रथपर आरूढ़, धनुषको चढ़ाकर, मेघ गम्भीर वाचासे राजा परीक्षित्ने उस शूद्रसे कहा—'तू कौन है? मेरे पालित जगत्में निर्बलोंको बली होकर सता रहा है। तू वेशसे तो राजा मालूम पड़ता है, परंतु कर्मसे अद्विज (शूद्र) मालूम पड़ता है। क्या तुम गाण्डीवधन्वा अर्जुनके साथ कृष्णको दूर गया समझता है, जो अशोच्योंको एकान्तमें सता रहा है? तू आज अवश्य शोच्य है और वधलायक है।' फिर उस वृषसे पूछा—'मृडालके समान धवल वर्णके हे वृष! आप कौन हैं, जो तीन पादोंसे रहित होकर चल रहे हैं? क्या आप कोई देव हैं? जबतक भूतल पौरवेन्द्रोंके भुजदण्डसे रक्षित है, तबतक किन्ही प्राणियोंके शोकाश्रु कभी नहीं गिर सकते। हे सौरभेय! तुम शोक मत करो। इस वृषलसे निर्भय हो, हे अम्ब! तुम भी मत डरो, मैं खलोंका शासन करनेवाला विद्यमान हूँ। हे साध्वी! जिस शासकके राष्ट्रमें प्रजा असाधुओंसे त्रस्त होती है, उसकी कीर्ति, आयु, ऐश्वर्य, सद्गति नष्ट हो जाती है। आर्तोंकी आर्ति मिटाना राजाका परम धर्म है। मैं इस भूतद्रोहीको अवश्य मारूँगा। हे सौरभेय! तुम्हारे तीन पादोंको किसने काटा? कृष्णानुवर्ती राजाओंके राज्यमें तुम्हारे समान दुखीका होना, उनके लिये लज्जाकी बात है। आप बताइये कि आप-जैसे निरपराध साधुओंका अंग-भंग किसने किया? असाधुओंका दमन करनेसे साधुओंका भद्र ही होता है। निरपराधोंपर अत्याचार करनेवाला निरंकुश देवताका भी भुजच्छेदन करना हमारा कर्तव्य है। स्वधर्मस्थोंका पालन करना, उत्पथगामी लोगोंका निग्रह करना भूपका परम धर्म है।'

राजाके वचनको सुनकर धर्मने कहा—'राजन् पाण्डुवंशीय राजाओंका आर्तोंको निर्भय करनेवाला ऐसा वचन ठीक ही है। तभी तो पाण्डवोंके गुणोंसे वशीभूत होकर भगवान्ने उनका दौत्य, सारथ्य आदि किया था। पुरुषर्षभ! जिससे प्राणीको क्लेश-कारण उपस्थित होते हैं, उसे वाक्यभेदसे मोहित होनेके कारण मैं नहीं जानता। कोई लोग आत्माको ही उसके दुःखका कारण कहते हैं, कोई दैवको, कोई कर्मको, कोई स्वभावको कारण कहते हैं। कारण अप्रतर्क्य और अनिर्देश्य है, अतः निश्चय होना कठिन है। अपनी मनीषासे आप स्वयं ही निर्णय करें।'

धर्मके ऐसा कहनेपर विखेद होकर समाहित मनसे राजाने पर्यालोचन करके कहा—'धर्मज्ञ! आप वृषरूपधारी धर्म हैं। पाप करनेवालेको जो स्थान मिलता है, सूचकको भी वही स्थान मिलता है। इसलिये आप अपराधीको बतलाना नहीं चाहते। भगवान्की मायाकी गति प्राणियोंके मन, बुद्धिका विषय नहीं है। तप, शौच, दया, सत्य—यही आपके चार पाद हैं। अधर्मके स्मय (गर्व), संग (आसक्ति), मदरूप अंशोंसे आपके तीनों पाद भग्न हो गये। इस समय अब एक पाद केवल सत्य ही रहा है। अनृतसे समृद्ध कलि उसे भी ग्रहण कर लेना चाहता है। यह पृथ्वी भगवान्के शोभित चरणोंसे कृतकौतुका हुई है। अब यह प्रभुसे वियुक्त होकर सोच रही है कि अब्रह्मण्य, नृपवेषधारी वृषल इसका उपभोग करेंगे।' इस तरह धर्म और पृथ्वी दोनोंका ही आश्वासन करके अधर्महेतु कलिके लिये राजाने तीक्ष्ण तलवार खींच ली। तलवार लेकर मारनेके लिये उद्यत राजाको देखकर कलि तत्क्षण ही नृपचिह्न छोड़कर भयविह्वल होकर राजाके चरणोंमें गिर पड़ा। चरणोंमें गिरा देखकर दीनवत्सल राजाने कृपासे उसे मारा नहीं और हँसकर कहा—'तैंने गुडाकेशयशोधरोंके सम्मुख हाथ जोड़ा है। अब तेरे लिये भय नहीं, परंतु तू अधर्मका कारण है, अब मेरे राज्यमें न रह। नरदेव-देहोंमें तेरे प्रविष्ट होनेसे ही यह अधर्म-समूह प्रवृत्त हुआ है।' लोभ, अनृत, चौर्य, अनार्य, पापमय-कलह, दम्भ सब तुम्हारे ही कारण आये हैं। हमारे यहाँ सत्य और धर्मको ही रहना चाहिये। उस ब्रह्मावर्तमें याज्ञिक लोग यज्ञ करते हैं, जिससे भगवान् प्रसन्न होकर यजन

करनेवालोंका कल्याण करते हैं। परीक्षित्से आज्ञप्त होकर, कम्पित हो कलिने कहा—'सार्वभौम! जहाँ भी आपकी आज्ञा हो, मैं वहीं रहूँ। मैं सर्वत्र ही आपको धनुष धारण किये खड़ा देखता हूँ, अतः जहाँ मैं आपका अनुशासन पालन करूँ, ऐसा स्थान बतलाइये।' राजाने कहा—'अच्छा, तुम द्यूत, सुरापान, वेश्या स्त्री और हिंसा—ये चार अधर्म जहाँ हों, वहाँ रहो।' कलिके और अधिक माँगनेपर परीक्षित्ने एक सुवर्ण भी स्थान बतलाया (इसीसे अनृत, मद, काम, रज और पाँचवाँ बैर भी स्थान मिल गया)। अधर्मके कारण कलि इन्हीं पाँच स्थानोंमें रहता है। प्राणीको उपर्युक्त चीजोंसे बचकर रहना चाहिये। विशेषतः लोकपति राजा, धर्मगुरु अवश्य इन बातोंसे बचें। वृषसे नष्ट तप, शौच, दया—इन तीनों पादोंका भी परीक्षित्ने सन्धान कर दिया। पृथ्वी और धर्मको आश्वासन देकर महाभाग चक्रवर्ती राजा परीक्षित् हस्तिनापुरमें राज्य करने लगे।

जिस समय परीक्षित् अपनी माँ उत्तराके गर्भमें थे, अश्वत्थामाने उनपर ब्रह्मास्त्र चलाया था। उत्तरा भगवान्के शरण गयी। प्रभुने अपने चतुर्भुजरूपमें गर्भमें ही प्रगट होकर गदासे अस्त्रतेजका विधमन करके परीक्षित्का रक्षण किया। जन्म लेते ही परीक्षित् उसी गर्भदृष्ट भगवान्का चिन्तन करते हुए बाहरके मनुष्योंमें उसी तत्त्वको पहचाननेकी कोशिश करने लगे—'**गर्भदृष्ट-मनुध्यायन् परीक्षेतनरेष्विह।**' अद्भुतकर्मा कृष्णके अनुग्रहसे जो ब्रह्मास्त्रसे भी नहीं नष्ट हुए, उन्हीं परीक्षित्ने ब्रह्मकोपोत्थित तक्षकसे प्राणविप्लव जानकर, प्रभुमें अन्तःकरण समर्पण करके शुककी कृपासे भगवत्स्वरूप-साक्षात्कार करके गंगामें अपना कलेवर त्याग किया। जबतक परीक्षित् सम्राट् थे, तबतक कलिका प्रभाव संसारमें नहीं था। सम्राट्ने सारग्रहणकी रुचिसे कलिसे द्वेष नहीं किया। कलिमें कुशल कर्म शीघ्र ही फल देते हैं, अकुशल नहीं। कलि मूर्खोंमें शूर है, धीरसे डरता है, प्रमत्तोंमें सावधान रहता है।

एक दिन राजा धनुष उठाकर मृगयाके लिये गये। मृगोंके पीछे दौड़ते-दौड़ते थककर क्षुधा और पिपासासे खिन्न हो उठे। जलाशय ढूँढ़ते-ढूँढ़ते एक आश्रममें जाकर उन्होंने वहाँ आँख मीचकर बैठे हुए शान्त मुनिको देखा। मुनि अपने इन्द्रियों, प्राणों, मन, बुद्धिको रोककर जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिसे अतीत तुरीय तत्त्वको प्राप्तकर अविक्रिय ब्रह्मस्वरूप हो रहे थे। बिखरी हुई जटाओं और मृगचर्मसे ढके हुए थे। राजाने जाकर उसी अवस्थामें महर्षिसे जल माँगा, परंतु उन्हें जल, तृण, अर्घ्य, सत्कारपूर्ण वचन आदि कुछ भी प्राप्त न हुआ। राजा अपनेको अपमानित समझकर कुपित हो गये। क्षुधा, तृषासे पीड़ित होनेके कारण ही राजाको मुनिके प्रति यह अभूतपूर्व क्रोध और मत्सर उत्पन्न हुआ। वे

एक मरे हुए साँपको धनुषसे उठाकर ब्रह्मर्षिके गलेमें, यह जाननेके लिये डालकर चले गये कि यह सचमुच समाधिमें हैं अथवा 'क्षत्रबन्धु राजासे क्या प्रयोजन?' यह समझकर झूठे ही समाधिमें बैठ गया है।

उस ब्रह्मर्षिका पुत्र परम तेजस्वी था। वह उस समय बालकोंके साथ खेल रहा था। राजाद्वारा पिताको अपमानित जानकर उसने कहा कि 'अहो! पालकोंका यह अधर्म! जैसे—बलिभुज द्वारपाल कुत्ता स्वामीपर ही तेज दिखलाये, वैसे ही आजकलके राजा ब्राह्मणोंपर

ही तेज दिखलाते हैं। ब्राह्मणोंने क्षत्रियोंको द्वारपालके रूपमें नियुक्त किया है। वे क्षत्रिय अब ब्राह्मणगृहमें ही भाण्डभोजी होना चाहते हैं। उत्पथगामियोंके शासन करनेवाले श्रीकृष्ण चले गये। अबसे मर्यादा-भेदकोंका मैं शासन करता हूँ।' अपने वयस्कोंको यह कहकर

रोषताम्राक्ष बालकने कौशिकी नदीका जल हाथमें लेकर आचमन करके वाग्वज्र छोड़ा 'मर्यादाका उल्लंघन करनेवाले क्षत्रिय-कुमारको तक्षक सातवें दिन काटेगा।' आश्रममें आकर पिताके गलेमें पड़े मृत सर्पको देखकर दु:खार्त बालक जोरसे रो पड़ा। उन आङ्गिरस महर्षिने पुत्रका विलाप सुनकर धीरसे नेत्र खोलकर देखा तथा कन्धेपर पड़े मृत सर्पको फेंक दिया और पुत्रसे पूछा—'क्यों रोते हो? किसने तुम्हें सताया?' बालकने सब बात सुनायी। राजाको दिया शाप सुनकर वे ब्राह्मण खिन्न हुए। वे नहीं चाहते थे कि ऐसे साधारण अपराधपर ऐसे योग्य धर्मात्मा राजाको इतना कठोर दण्ड दिया जाय। महर्षिने कहा—अविपन्नबुद्धे! नरदेवको साधारण मनुष्योंके समान नहीं समझना चाहिये। जिसके दुर्विषह तेजसे रक्षित होकर प्रजा निर्भय होकर धर्माचरण करती है, उस नरेन्द्ररूप विष्णुसे रक्षित न होनेपर चोरोंका बाहुल्य होनेसे लोक नष्ट हो जाता है। राजाके नष्ट होनेसे प्रजाको कष्ट होगा, उससे हमीको दोष लगेगा। परस्पर उपद्रवोंके बढ़नेसे आर्यधर्मको बड़ा धक्का लगेगा। वेदोक्त वर्णाश्रम धर्म संकटमें पड़ जायगा जिससे अर्थ, काममें निविष्टचित्त प्राणियोंमें बन्दरों, कुत्तों-जैसा सांकर्य फैल जायगा। सम्राट् धर्मपाल अश्वमेधयाजी महाभागवत हैं। वे क्षुधा, पिपासा और श्रमसे युक्त थे, वे कदापि हमारे शापके पात्र नहीं थे।' यह कहकर ब्राह्मणने कहा कि 'अपक्वबुद्धि बालकने निष्पाप अपने भृत्य राजाको शाप देकर अपराध किया, भगवान् सर्वात्मा उसे क्षमा करें।' भगवान्के भक्त विप्रलम्भ और तिरस्कार करनेपर भी शप्त, अधिक्षिप्त एवं ताड़ित होनेपर समर्थ होकर भी उसका प्रतिकार नहीं करते। अतएव स्वयं विप्रकृत होनेपर भी ऋषि पुत्रकृत अपराधसे अनुतप्त हुए। राजाके अपराधका ध्यान भी नहीं किया। साधु लोग आत्माको अजर-अमर जानते हैं, इसीलिये दूसरोंसे सताये जानेपर भी व्यथित नहीं होते।

गृहमें पहुँचते ही सम्राट् दुर्मना होकर अपने दुष्कृतपर शोक करने लगे—'अहो! मैंने अनार्योंके समान कैसा नीच कर्म किया? निरपराध गूढतेज महर्षिको मैंने नाहक सताया। अवश्य ही मेरे ऊपर कोई दीर्घ विपत्ति आनेवाली है। अवश्य ऐसा हो, जिससे मैं फिर ऐसा कर्म न करूँ। प्रकोपित ब्रह्मकुलानल आज ही मेरा राज्य, कोष दग्ध कर डाले, जिससे गो, ब्राह्मणोंके प्रति मेरी पुन: ऐसी पापीय-सी बुद्धि न हो।' इतनेहीमें महर्षिके शिष्यद्वारा राजाने शापका वृत्तान्त सुना, परंतु उससे राजाको घबराहट नहीं हुई। उसने शापको गृहासक्तिसे वैराग्य प्राप्त करनेका कारण ही समझा। राजा पहलेसे विचारशील था, उसने लौकिक विषयोंसे अपने मनको हटाकर कृष्णसेवाको ही प्रधान समझ गंगातटपर आमरण अनशन करके बैठना निश्चय कर लिया।

अपने साधनके अनुकूल संग करे

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

सजातीय वस्तुका ग्रहण जल्दी होता है और विजातीयका देरसे होता है, अपने जिस प्रकारके भाव हैं, विचार हैं, उसी प्रकारकी वस्तु यदि मिल जाती है तो उसका ग्रहण जल्दी होता है और उससे विरोधिनी वस्तु यदि अच्छी भी है तो उसको ग्रहण करनेमें जरा कठिनता होती है, इसलिये साधनामें, जिसकी जो साधना हो, उसके अनुकूल पदार्थोंका, परिस्थितियोंका संग्रह और संग करना उचित है।

जैसे एक आदमी भगवान् कृष्णका उपासक है, एक भगवान् शंकरका उपासक है, कोई किसीका उपासक है, वह यदि दूसरी चीजोंको बार-बार सुनता रहे, उसकी विरोधी चीजोंको भी सुनता रहे तो क्या होगा कि उसकी बुद्धि उसे ग्रहण तो करेगी नहीं, और अपने विषयमें सन्देह पैदा हो जायगा कि ये करे कि वो करे। ऐसी अवस्थामें उसके लिये वह चीज अच्छी होनेपर भी साधनमें विघ्नकारक है। साधनाका स्वरूप दूसरा है और सुननेकी कौतूहलताका रूप दूसरा है—बड़ा अन्तर है।

उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥

(रा०च०मा० ३।५।१२)

यह मनोविज्ञानका नियम, साधनाका नियम है कि जिस विषयमें जो लगा रहना चाहता है, वह उसीकी बात सुने, उसीकी कहे, उसीको देखे, उसीका मनन करे वह क्या होता है कि उसके विचार परिपक्व होते हैं, बद्धमूल होते हैं और यदि वह बार-बार नयी चीजें सुनता, बार-बार नयी चीजें देखता तो उसकी जानकारी तो बढ़ सकती है विविध वस्तुओंकी, पर वह जानकारी भी सब अधूरी रहेगी; क्योंकि पूरी जानकारीके लिये पूरा जीवन लगानेकी आवश्यकता है। वह उसका अर्ध ज्ञान रहेगा, थोड़ा इसका थोड़ा उसका, वह मोदीकी दूकान रहेगी, वह साधना-मन्दिर नहीं होगा।

जिसको अपने साधना-मन्दिरका निर्माण करना है, उसको तो अपने साध्यको लेकर ही चलना है, वह चाहे दूसरोंकी दृष्टिमें भले ही निकृष्ट हो; और यह सिद्धान्त है कि भगवान्‌को लेकर यदि मनुष्य चलता है सच्चे अर्थमें तो वह चाहे अपने भगवान्‌का रूप कुछ भी करे, भगवान्‌का अपना रूप तो अपना है ही ना तो जब कभी भगवान् कृपा कर उसको अपने रूपका दर्शन करायेंगे तो नकली नहीं करायेंगे; क्योंकि उनके पास नकली चीज है ही नहीं।

इसलिये जिस किसी भी साधनमें जो व्यक्ति लगा हुआ हो, वह उसी साधनके अनुकूल प्रसंगोंको, संगोंको देखे, उन्हींका मनन करे, उन्हींमें रमे, उन्हींमें रुचि रखे तो उनका ग्रहण जल्दी होता है, साधना परिपुष्ट होती है और यदि वह भगवान्‌के लिये है तो भगवान् दयामय हैं, भगवान् सर्वज्ञ हैं, वे जानेंगे कि ये मेरे लिये कर रहा है तो कहीं भूल त्रुटि होगी तो उसको भगवान् निकाल देंगे। अतएव उचित यह है कि अपने मार्गपर चलता रहे। अपना इष्टदेव बड़ा अच्छा, दूसरेके इष्ट बड़े अच्छे, पर हमें तो भई इसीकी आवश्यकता है—

ठाकुर नंदकिशोर हमारे, ठकुराइन वृषभानुलली।
और कोई समझे सो समझे, हमको इतनी समझ भली॥

इससे बड़ी समझ भी हो सकती है, इससे अच्छा भी भगवान्‌का रूप हो सकता है। इससे बड़ा विलक्षण, सूक्ष्म बुद्धिमें आनेवाला भगवान्‌का तात्त्विक स्वरूप भी हो सकता है, वह सब ठीक है, पर हमको तो इतनी बुद्धि अच्छी है। इससे आगेकी बुद्धि जो इस इष्टको खो दे, ना हो।

एक बार यशोदा मैयाके पास अच्छे-अच्छे ब्राह्मण ऋषि-मुनि आये, उनका संग आया तो थोड़ी देरके लिये उनका भाव पलटा संगसे। सब ऋषि-मुनि थे तो बड़े दयालु, पर आँख तो अपनी-अपनी होती है ना, उन ऋषि-मुनियोंने, महात्माओंने बड़ी दया करके बड़े स्नेहसे कहा—नन्दरानी! देखो भई, तुमसे एक अनुरोध

है, तुम हो बड़ी अच्छी, तुम्हारा स्वभाव बड़ा साधु, तुम्हारे आचरण बड़े पवित्र, तुम सब प्रकारसे भगवत्प्राप्तिके योग्य, ज्ञानप्राप्तिके योग्य हो; पर तुम इस लड़केमें जो इतना मोहित हो रही हो, ये जरा कम करो।

वह बोलीं—कैसे कम करें?

कहा—भई! ज्ञानको प्राप्त करो।

ज्ञानके प्रकाशमें जितने भी तम हैं मायाके, सब हट जाते हैं और यथार्थ वस्तुके दर्शन होते हैं। वही सबका ध्येय होना चाहिये, वही सबके लिये उचित है। थोड़े कालके लिये उन्होंने क्या किया, बोली अच्छा आप जैसा कहते हैं, वैसा ही करें। जब वे जरा-सा आँख मूँद करके और ऋषियोंके बतानेके अनुसार ध्यानमें प्रवृत्त हुईं तो गोदमें बैठे लाला हटकर परे हो गये। वे जबतक देख रही थीं लालाकी ओर तबतक लाला मन्त्रमुग्धसे मैयाकी ओर देख रहे थे बड़े मजेसे और जब वे महात्माओंके उपदेशसे और महात्माओंके बतानेके अनुसार किसी अन्य ध्यानमें प्रवृत्त हुईं, जरा आँख मूँदी तो कन्हैया गोदसे उठकरके अलग जाकर खड़े हो गये। अब आँख तो मूँदी है, पर ध्यान गया कन्हैया कहाँ है? टटोली पर कन्हैया नहीं दिखा, अब खुल गयी आँख, तत्काल अरे कन्हैया! कहाँ गया है? किधर चला गया? महात्माओंने कहा—अरे! कन्हैया यहींपर होगा, तुम ध्यान तो करो।

बोली—कैसा ध्यान करें? कन्हैया तो है नहीं।

ओ! तो कन्हैयाका थोड़े ध्यान करना था, तुमको तो ज्ञानके प्रकाशमें ले आना है।

बोलीं—ये ज्ञानका प्रकाश तो अँधेरा लानेवाला है हमारे लिये।

कैसे?

बोलीं—आँख मिची तो अँधेरा हो गया और कन्हैया ना दिखा तो सबसे बड़ा अँधेरा हो गया। जो प्रकाश कन्हैयाको गोदसे हटा दे, हमें महात्माजी उस प्रकाशकी आवश्यकता नहीं है। हमें तो ये अँधेरा ही अच्छा है।

करपात्रीजीने एक बार बड़ी सुन्दर बात कही, करपात्रीजीने कहा कि जो ज्ञान भगवान् श्रीकृष्णको मनसे हटा दे, उस ज्ञानमें आग लग जाय। ये उनके शब्द हैं महाराज, मेरे नहीं और मधुसूदन सरस्वतीजीने तो पन्द्रहवें अध्यायकी टीकामें लिखा, मधुसूदन सरस्वती अद्वैतसिद्धिकार थे, वे कहते हैं कि जो श्रीकृष्णको भगवान् नहीं मानते वे नरकगामी होंगे, देख लीजिये, यह टीका निकालकर आप। अपनी-अपनी आँख और अपने-अपने भगवान्। भगवान् एक होनेपर भी विभिन्न होते हैं, भगवान् दो चार नहीं।

साधनामें साधनके लिये यह आवश्यक है कि निर्गुणका साधक बार-बार सगुणकी चर्चा न करे। यह आवश्यक नहीं है, वह अपने मार्गपर चलता रहे, भगवान् तो निर्गुण हैं ही, जहाँ उनको सगुण मानते हैं, वहाँ भी निर्गुण हैं ही। वहाँकी व्याख्या भगवान्ने स्वयं की। पद्मपुराणमें भगवान् शंकरके साथ भगवान् श्रीकृष्णका संवाद है। उसमें उन्होंने सगुणकी निर्गुणताका, साकारकी निराकारिताका अर्थ समझाया है। श्रीकृष्णजीने शंकरजीको वहाँपर कहा कि मेरे जो गुण हैं, वे गुण प्राकृतिक गुण नहीं हैं, सत्-रज-तम—ये गुण मेरेमें नहीं हैं, मेरे जो गुण हैं, वे स्वरूपभूत गुण हैं तो इन गुणोंसे मैं सर्वथारहित हूँ, इसलिये मैं सगुण भी हूँ, निर्गुण भी हूँ! और मेरा जो स्वरूप है, यह आकार श्रीविग्रह पांचभौतिक आकारवाला नहीं; तो पांचभौतिक आकारसे रहित होनेके कारण मैं साकार होता हुआ भी निराकार हूँ।

इसलिये उनमें सगुणमें भी निर्गुणता और साकारतामें भी निराकारता नित्य प्रतिष्ठित रहती है और जहाँ साकारता और सगुणताको हम नहीं देखते, वहाँ वह निर्गुण निराकार है ही, इस अवस्थामें निर्गुणका उपासक सगुणवालेको मन्द अधिकारी ना बताये। नीचा तो ना बताये, खण्डन-मण्डन ना करे और अपने निर्गुणके मार्गपर सीधा चलता चले, यह उसके लिये आवश्यक है। इसी प्रकार साकार सगुण भगवान्की पूजा करनेवाले

उपासक जिस रूप, जिस नाममें उनकी रुचि हो, उसीमें लगे रहें और उसीके अनुकूल बातोंको सुनते, देखते रहें। इसलिये यह जो सम्प्रदाय है ना, सम्प्रदायोंको अगर अच्छी दृष्टिसे हम देखें तो बड़े कामकी चीज है। भई, बार-बार मार्ग बदलते रहना, आज एक, कल दूसरा, परसों तीसरा तो किसी मार्गपर भी आगे नहीं बढ़ सकता। अपने मार्गपर चलते रहना, अपने सम्प्रदायके अन्तर्गत रहकर भगवान्‌को पानेकी चेष्टा करना, इसमें क्या बुरी बात है? इस दृष्टिसे गुरु, इष्ट, सम्प्रदाय—यह सब अलग-अलग हुआ करते हैं और इनका अलग-अलग होना रुचिके अनुसार होता है।

आगेकी सुध ले

(श्रीअवनीन्द्रजी नागर)

हमारे पास बहुत थोड़ा समय है—मात्र जन्मसे मृत्युतकका समय।

बचपन हँसते-खेलते बीत जाता है। समाजमें परिवारकी जिम्मेदारी उठाते हुए, स्वधर्म निभाते-निभाते, विद्या, व्यवसाय, विवाह, विवाहसे उत्पन्न व्यावहारिक परिस्थितियोंसे निपटते-निपटाते, संतानोंके उत्तरदायित्वके कर्तव्यकी पूर्ति करते-करते कब जीवनका आधे-से-अधिक समय बीत जाता है, पता ही नहीं चलता। शरीर क्षीण होने लगता है, साहसकी कमी होने लगती है, धैर्य खोने लगता है, मृत्युका भय अपनी जगह बनाने लगता है, मानसिक शान्ति अधीरतामें परिवर्तित होने लगती है, स्वाभाविक आत्मचिन्तन चिन्तामें बदलने लगता है—कितना समय बचा है? क्या होगा?

अवस्था बढ़नेके साथ विवेक एवं व्यक्तिगत दृष्टिकोण जागने लगता है। ईश्वरीय माया, मानवीय ममता एवं ममत्वमें अन्तर स्पष्ट होने लगता है। शनैः-शनैः दिन-प्रतिदिन यह विचार मनुष्यको सताने लगता है कि मानव शरीर पाकर भी वृथा ही आयु बिता दी। सद्‌गति प्राप्त करनेका उपाय नहीं कर पाये।

इस प्रकारकी नकारात्मक विचारधारा मनुष्यको जीवनकी सार्थकतासे भटका देती है। मनुष्यके पास अपने उद्धारके लिये सीमित समय है। मृत्युके बाद सारे रिश्ते-नाते समाप्त हो जाते हैं, यहाँतक कि अपने शरीरसे भी सम्बन्ध नहीं रहता। मरणोपरान्त मनुष्यके अपने घरवाले ही मृत शरीरसे छुटकारा पाना चाहते हैं। अतः समय रहते मनुष्यको अपना काम कर लेना चाहिये। यह समय कुछ वर्ष, कुछ महीने, कुछ घण्टे या कुछ सेकेण्ड भी हो सकता है।

मनुष्य जीवन बार-बार नहीं मिलता। कितनी ही योनियोंमें जन्म-मरणका चक्र पार करनेके बाद मनुष्य शरीर मिलता है। दूसरी योनियाँ भोगयोनियाँ हैं। मनुष्ययोनि ही ऐसा अवसर है, जब मनुष्य अपने मन-बुद्धिको एकाग्र करके इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए पुरुषार्थ-साधनसे, सत्कर्मोंद्वारा पूर्णतया भगवान्‌का शरणागत होकर आवागमनके चक्रसे मुक्ति पा सकता है। मनुष्यका शरीर देकर परमात्माने हमपर विशेष कृपा की है। इसे परमात्माका पुरस्कार समझकर स्वीकार करते हुए स्वधर्म एवं जनसेवामें लगाना चाहिये, जिससे परमात्माकी प्राप्तिका मार्ग आसान हो जाय।

श्रीरामभक्त गोस्वामी तुलसीदासजीके अनुसार—

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥

यह मनुष्य शरीर जो देवताओंको भी दुर्लभ है, वह हमको बड़े भाग्यसे मिला है।

संसारमें जन्म लिया है तो सांसारिक बन्धनों, सम्बन्धों एवं साधनोंसे दूरी रखना कठिन है। समाजमें रहते हुए सामाजिक परम्पराएँ, दूर एवं पासके सम्बन्धियोंसे जुड़े रीति-रिवाजोंको निभाना ही पड़ता है। अतः उम्रके जिस पड़ावपर, जब भी, यह अनुभूति होने लगे कि अब

समय आ गया है—परमात्मामें मन लगाना चाहिये। तभीसे उसकी शरणमें हो जाना चाहिये।

गीतामें भगवान् स्वयं अर्जुनसे कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(१८।६२)

अर्थात् तू सर्वभावसे उस ईश्वरकी ही शरणमें चला जा। उसके प्रसादस्वरूप तू परमशान्तिको तथा अविनाशी परम पदको प्राप्त हो जायगा।

मनुष्य शरीरका स्रोत ही शारीरिक सम्बन्धोंसे प्रारम्भ होता है, अतएव जीवके क्रियात्मक स्वरूप लेते ही उसको जन्म देनेवालोंके लिये एवं उन संगठनों, संस्थाओंके लिये जो उसको एक अच्छा नागरिक बनानेमें सहायक होते हैं, उनके प्रति उसके स्वधर्म तथा उससे जुड़े हुए कर्मोंका पालन करना निश्चय हो जाता है। कोई भी इन कर्मोंसे पीछा छुड़ाकर भाग नहीं सकता। कर्मोंको करनेका ढंग अलग-अलग मनुष्योंद्वारा परिस्थितियों एवं पारिवारिक परम्पराओंके अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकता है, परंतु उनसे मुक्ति सम्भव नहीं है। समाजद्वारा बनाये हुए नियमोंका पालन करते हुए। इन कर्मोंको करते हुए परमात्मासे जुड़े रहना है। परमात्मासे जुड़े रहकर ही परमात्मामें लीन होनेका मार्ग सुगम होता है। परम श्रद्धेय पूज्य बापूजीको अन्त समयमें पिस्तौलकी गोली लगनेपर अनायास केवल दो शब्द 'राम-राम' का ही स्मरण हुआ, जो इस यथार्थका उत्कृष्ट उदाहरण है कि अपना काम करनेमें रामनामका भी समायोग है। जीवन यदि सन्मार्गपर चला है, जनकल्याणके लिये सर्मपण किया है तो आपत्तिकी अवस्थामें भी ईश्वरके स्मरणकी सम्भावना उत्कृष्ट हो जाती है।

भगवान् श्रीकृष्णकी वाणी (गीता)-के अनुसार—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(१०।१०)

वे लोग जो भगवान्में नित्य-निरन्तर लगे हुए, भगवान्को अपना मानते हुए प्रेमपूर्वक स्वभावसे उनके ही भजनमें लगे रहते हैं। ऐसे भक्तोंको वह बुद्धियोग देते हैं, जिससे वे परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।

भगवान्द्वारा बुद्धियोग देनेका तात्पर्य है—

समता प्रदान करना अर्थात् विभिन्न परिस्थितियोंमें अपनेको एक रूपमें रखना। सुख-दु:ख, हार-जीत, सफलता-असफलता, संयोग-वियोग, लाभ-हानि, आदर-निरादर, सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति या अप्राप्ति, प्रशंसा अथवा निन्दा यानी कि अनुकूल अथवा विपरीत स्थितियोंसे प्रभावित न होकर मनको विचलित न होने देना। इस प्रकार भगवान्द्वारा दिये हुए बुद्धियोगसे भक्तजन भगवान्की उपासनामें निरन्तर लगे रहकर अपने कर्तव्यका पालन करते हुए इस जीवनमें ही पूर्णताका अनुभव करने लगते हैं।

जब जागें तभी सबेरा—जब मनोदशा दिशा बदलने लगे—जब मनमें विचार आने लगे—अब बहुत हो गया, अब रामनामका समय है, कृष्ण-कीर्तनकी इच्छा जाग्रत् होने लगे, बाँसुरीकी धुन कानमें गूँजने लगे—राम या श्याम जिसपर भी मन आकर्षित हो, एकाग्रचित्त होकर उसीका ध्यान आरम्भ कर दीजिये।

कौन कहता है—सांसारिक मोह-माया, सामग्री एवं सम्पत्तिको छोड़नेपर ही भगवान् मिलते हैं। धैर्य रखिये, थोड़ेसे प्रारम्भ कीजिये, जैसे-जैसे मन सिमटने लगेगा, रामनामका समय बढ़ने लगेगा। यह दिनचर्याका एक विशेष अंग बनने लगेगा। ***सुबह होती है, शाम होती है, यूँ ही उम्र तमाम होती है***—ऐसा कोई नियम नहीं है। जहाँ जीवनमें अथवा दिनभरमें परमात्माका ध्यान करनेके लिये कोई विशेष पल निश्चय किया गया हो। स्वधर्म निभाते हुए, जब भी फुरसत (अवकाश) मिले, जब भी मन करे (समय), जहाँ मन करे (स्थान), जिस स्थितिमें रहते हुए मन करे (अवस्था) शुरू हो जाइये। भगवान्के नाम, गुण, लीला, शृंगार, स्वरूप, साहित्य, सेवा—जिधर भी ध्यान जाय, उसमें रम जाइये। संक्षेपमें कहनेका तात्पर्य यही है—

बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुध ले॥

साधकोंके प्रति—

[सबमें परमात्माका दर्शन]

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

स्नान करते समय जब आप साबुन लगाकर रगड़ते हैं, उस समय आपका स्वरूप कैसा दीखता है? बुरा दीखता है। बुरा दीखनेपर भी मनमें ऐसा नहीं रहता कि मेरा स्वरूप बुरा है। मनमें यह रहता है कि यह रूप साबुनके कारण ऊपर-ऊपरसे ऐसा दीखता है, वास्तवमें ऐसा है नहीं। ऐसे ही कोई दुष्ट-से-दुष्ट व्यक्ति दीखे तो मनमें यह आना चाहिये कि यह ऊपर-ऊपरसे ऐसा दीखता है, भीतरसे तो यह परमात्माका अंश है। काले कपड़ोंको पहननेसे क्या मनुष्य काला हो जाता है? नहीं, जैसा उसका स्वरूप है, वह वैसा ही रहता है। ऐसे ही दुष्टता और सज्जनता अन्तःकरणमें रहती हैं। परमात्माका जो अंश है, उसमें अन्तर नहीं पड़ता। एक जीवन्मुक्त है, भगवत्प्रेमी है, सिद्ध महापुरुष है और एक दुष्ट है, कसाई है, जीवोंकी हत्या करता है, चोरी करता है, डाका डालता है, तो उन दोनोंमें परमात्मतत्त्व एक ही है। उस तत्त्वमें कोई अन्तर नहीं है। जो परमात्मतत्त्वको चाहता है, वह उस तत्त्वकी ओर देखता है। व्यवहारमें यथायोग्य बरताव करते हुए भी साधककी दृष्टि उस तत्त्वकी ओर ही रहनी चाहिये। उस तत्त्वकी ओर दृष्टि रखनेवालेका नाम ही 'समदर्शी' है। व्यवहारमें समता लानेवाले, सबके साथ खाना-पीना, ब्याह आदि करनेवाले 'समवर्ती' हैं, समदर्शी नहीं। 'समवर्ती' नाम यमराजका है—**'समवर्ती परेतराट्'** (अमरकोश १।१।५८); क्योंकि मौत सबकी समान होती है। अतः ज्ञानीका नाम है—समदर्शी और यमराजका नाम है—समवर्ती। ज्ञानी समदर्शी क्यों है? इसलिये कि वह सबमें समरूप परमात्माको देखता है। दुष्ट आदमीको देखकर यदि दुष्टताका भाव पैदा होता है, तो वह समदर्शी नहीं है, परमात्मतत्त्वका जिज्ञासु नहीं है; कम-से-कम उस समय तो नहीं है।

एक स्थूल दृष्टान्त आता है। एक वैरागी बाबा थे। उनके पास सोनेकी बनी हुई एक गणेशजीकी और एक चूहेकी मूर्ति थी। बाबाजीको तीर्थोंमें जाना था। वे दोनों मूर्तियोंको सुनारके पास ले गये और बोले कि इन्हें ले लो और इनकी कीमत दे दो, जिससे हम तीर्थोंमें घूम आयें। दोनों मूर्तियोंका वजन बराबर था, इसलिये सुनारने दोनोंकी बराबर कीमत कर दी। बाबाजी चिढ़ गये कि जितनी कीमत गणेशजीकी, उतनी ही कीमत चूहेकी—ऐसा कैसे हो सकता है? चूहा तो सवारी है और गणेशजी उसपर सवार होनेवाले हैं, उसके मालिक हैं। सुनार बोला—'बाबाजी! हम गणेशजी और चूहेकी कीमत नहीं करते, हम तो सोनेकी कीमत करते हैं।' सुनार मूर्तियोंको नहीं देखता, वह तो सोनेको देखता है। ऐसे ही परमात्मतत्त्वको चाहनेवाला साधक प्राणियोंको न देखकर उनमें रहनेवाले परमात्मतत्त्वको देखता है।

परमात्मा सबके भीतर हैं—यह बहुत ऊँचे दर्जेकी वस्तु है। उतना न समझ सकें तो इतना समझ लें कि 'सब परमात्माके हैं।' यह सुगमतासे समझमें आ जायगा कि ये जितने प्राणी हैं, सब परमात्माके हैं। परमात्माके हैं तो ऐसे क्यों हो गये? अधिक लाड़-प्यार करनेसे बालक बिगड़ जाता है। ये परमात्माके लाड़ले बालक हैं, इसलिये बिगड़ गये। बिगड़नेपर भी हैं तो परमात्माके ही! अतः उन्हें परमात्माके समझकर ही उनके साथ यथायोग्य बरताव करना है। जैसे हमारा कोई प्यारा-से-प्यारा भाई हो और उसे प्लेग हो जाय, तो प्लेगसे परहेज रखते हैं और भाईकी सेवा करते हैं। जिसकी सेवा करते हैं, वह तो प्रिय है, पर रोग अप्रिय है। इसलिये खान-पानमें परहेज रखते हैं। ऐसे ही किसीका स्वभाव बिगड़ जाय तो यह बीमारी आयी है, विकृति आयी है। उसके साथ व्यवहार करनेमें जो दीखता है, वह केवल ऊपर-ऊपरका है। भीतरमें तो उसके प्रति हितैषिता होनी चाहिये।

भगवान् सबके सुहृद् हैं—**'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (गीता ५।२९)। ऐसे ही सन्तोंके लिये आया है कि वे सम्पूर्ण प्राणियोंके सुहृद् होते हैं—**'सुहृदः सर्वदेहिनाम्'** (श्रीमद्भा० ३।२५।२१)। सुहृद् होनेका अभिप्राय

क्या? कि दूसरा क्या करता है, कैसे करता है, हमारा कहना मानता है कि नहीं मानता, हमारे अनुकूल है कि प्रतिकूल—इन बातोंको न देखकर यह भाव रखना कि अपनी ओरसे उसका हित कैसे हो? उसकी सेवा कैसे हो? हाँ, सेवा करनेके प्रकार अलग-अलग होते हैं। जैसे, कोई चोर है, डाकू है, उनकी मारपीट करना भी सेवा है। तात्पर्य यह है कि उनका सुधार हो जाय, उनका हित हो जाय, उनका उद्धार हो जाय। बच्चा जब कहना नहीं मानता, तब क्या आप उसे थप्पड़ नहीं लगाते? उस समय क्या आपका उससे वैर होता है? वास्तवमें आपका अधिक स्नेह होता है, तभी आप उसे थप्पड़ लगाते हैं। भगवान् भी ऐसा ही करते हैं। जैसे, बच्चे खेल रहे हैं और किसी माईका चित्त प्रसन्न हो जाय तो वह स्नेहवश सब बच्चोंको एक-एक लड्डू दे देती है, परंतु वे उद्दण्डता करते हैं तो वह सबको थप्पड़ नहीं लगाती, केवल अपने बालकको ही लगाती है। ऐसे ही भगवान्‌का विधान हमारे प्रतिकूल हो तो वह उनके अधिक स्नेहका, अपनेपनका द्योतक है।

दूसरेके साथ स्नेह रखते हुए बरताव तो यथायोग्य, अपने अधिकारके अनुसार करना चाहिये, पर दोष नहीं देखना चाहिये। किसीके दोष देखनेका हमारा अधिकार नहीं है। जैसे, नाटकमें एक मेघनाद बन गया और एक लक्ष्मण बन गया। दोनों एक ही कम्पनीके हैं। पर नाटकके समय कहते हैं—अरे, तुझे मार दूँगा। आ जा मेरे सामने, समाप्त कर दूँगा। वे शस्त्र-अस्त्र भी चलाते हैं; परंतु भीतरसे उनमें वैर है क्या? नाटकके बाद वे एक साथ रहते हैं, खाते-पीते हैं; क्योंकि उनके हृदयमें वैर है ही नहीं।

सन्तोंके लिये कहा गया है—

संतों की गति रामदास, जग से लखी न जाय।
बाहर तो संसार-सा, भीतर उल्टा थाय॥

बाहरसे वे संसारका बरताव करते हैं, पर भीतरसे परमात्मतत्त्वको देखते हैं। भीतरसे उनका किसीके साथ द्वेष नहीं होता और सबके साथ मैत्री तथा करुणाका भाव होता है—'**अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।**' (गीता १२। १३) हृदयसे वे सबका हित चाहते हैं।

अब प्रश्न यह है कि हमारी दृष्टि सम कैसे हो? एक तो आपमें यह बात दृढ़तासे रहे कि 'मैं तो साधक हूँ, परमात्मतत्त्वका जिज्ञासु हूँ' और एक यह बात दृढ़ रहे कि 'सबमें परमात्मा हैं।' सबमें परमात्माको कैसे देखें? इस बातको थोड़ा ध्यानसे सुनें। 'मनुष्य है'—इसमें जो 'है'-पना है, सत्ता है, वह कभी मिटती नहीं। वह बुरा हो या भला हो, दुराचारी हो या सदाचारी हो, उसमें जो 'है'-पना है, वह मिटेगा क्या? बढ़िया-से-बढ़िया वस्तुओंमें भी वह 'है'-पना है और कूड़ा-करकट आदिमें भी वह 'है'-पना है। उन वस्तुओंका रूप बदल जाता है, पर 'है'-पना (सत्ता) नहीं बदलता। कूड़ा-करकटको जला दो तो वह राख बन जायगा, उसका रूप दूसरा हो जायगा। पर उसकी सत्ता दूसरी नहीं हो जायगी। वह सत्ता परमात्माकी है। उस सत्ताकी ओर दृष्टि रखें। जो परिवर्तन होता है, वह प्रकृतिमें होता है। आपको संक्षेपमें प्रकृतिका स्वरूप बतायें तो एक वस्तु और क्रिया—ये दो प्रकृति हैं। वस्तु भी बदलती रहती है और क्रिया भी बदलती रहती है। यह बदलना प्रकृतिका है। आप प्रकृतिके जिज्ञासु नहीं हैं, परमात्माके जिज्ञासु हैं। अतः बदलनेवालेको न देखकर रहनेवाले 'हैं'-पनको देखें। संसार है, मनुष्य है, पशु है, पक्षी है; यह जीवित है, यह मुर्दा है—इसमें तो अन्तर है, पर 'है' में क्या अन्तर पड़ा? लाभ हो गया, हानि हो गयी; पोतेका जन्म हुआ, बेटा मर गया, तो लाभ-हानिमें, जन्मने-मरनेमें अन्तर है, पर दोनोंके ज्ञानमें क्या अन्तर पड़ा? न उस वस्तुकी सत्तामें अन्तर पड़ा और न आपके ज्ञानमें अन्तर पड़ा।

व्यवहार तो स्वाँगके अनुसार ही होगा। हम साधु हैं तो साधुकी तरह स्वाँग करेंगे। गृहस्थ हैं तो गृहस्थकी तरह स्वाँग करेंगे। सामने जो व्यक्ति है, परिस्थिति है, उसे लेकर बरताव करना है; परंतु भीतरसे, सिद्धान्तसे यह रहे कि सबमें एक परमात्मतत्त्वकी सत्ता है। सत्यरूपसे, ज्ञानरूपसे और आनन्दरूपसे सबमें परमात्मा ही परिपूर्ण हैं।

एक काल्पनिक सत्ता होती है और एक वास्तविक सत्ता होती है। पैदा होनेके बाद होनेवाली सत्ता

काल्पनिक है और पैदा न होनेवाली अर्थात् नित्य रहनेवाली सत्ता वास्तविक है। जैसे, बालक पैदा हुआ, तो पैदा होनेके बाद 'बालक है' ऐसा दीखता है। पैदा होनेसे पहले वह बालक नहीं था। बालक होनेके बाद फिर वह जवान हो जाता है। इस प्रकार यह बदलनेवाली काल्पनिक सत्ता प्रकृतिकी है। मूलमें परमात्मतत्त्वकी वास्तविक सत्ता है, जो कभी बदलनेवाली नहीं है। परमात्मतत्त्वका जिज्ञासु उस न बदलनेवाली सत्ताको देखता है और संसारी आदमी बदलनेवाली सत्ताको देखता है, एककी दृष्टि पारमार्थिक है और एककी दृष्टि सांसारिक है। जैसे स्थूल दृष्टिसे माँ, बहन और स्त्री एक समान ही दीखती हैं, पर भाव-दृष्टिसे देखें तो माँ, बहन और स्त्री—तीनों अलग-अलग दीखती हैं। बाहरकी स्थूल दृष्टि तो पशुकी दृष्टि है, मनुष्यकी दृष्टि नहीं। साधककी दृष्टि तत्त्वपर रहती है, इसलिये वह सब जगह एक परमात्माको ही देखता है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो सबमें मुझे देखता है और सबको मुझमें देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

एक बच्चेने माँसे कहा—'माँ! मुझे गुड़ चाहिये।' माँने कहा कि ग्वार ले जा और बदलेमें बनियेके यहाँसे गुड़ ले आ। बच्चा घरसे ग्वार ले गया और बनियेसे बोला—'मुझे गुड़ चाहिये।' बनियेने तौलकर ग्वार ले लिये और गुड़ तौलकर दे दिया। बच्चा सोचने लगा—'बनिया कितना मूर्ख है! ग्वार-जैसी वस्तु पशुओंके खानेकी है, मनुष्यके कामकी नहीं है, उसके बदलेमें यह मुझे गुड़ देता है!' इस तरह ग्वार और गुड़पर दृष्टि रहनेके कारण बच्चेको बनिया मूर्ख दीखता है; परंतु बनियेकी दृष्टि पैसोंपर है कि ग्वार कितने पैसोंका है और गुड़ कितने पैसोंका है। बनिया दो तरहसे पैसे कमाता है—माल लेता है तो सस्ता लेता है और बेचता है तो महँगा बेचता है। अतः उसने ग्वारमें नफा अलग लिया और गुड़में नफा अलग लिया। बनियेको ग्वार और गुड़से क्या मतलब? उसे तो पैसा प्राप्त करना है। ऐसे ही साधककी दृष्टि परमात्मतत्त्वपर होती है। सबमें जो परमात्मा है, उसीको प्राप्त करना है, संसारसे क्या मतलब?

साधकको व्यवहार तो यथायोग्य करना है, पर महत्त्व परमात्मतत्त्वको ही देना है, व्यवहारको नहीं। व्यवहारमें किसीने आदर कर दिया तो क्या हो गया? किसीने निरादर कर दिया तो क्या हो गया? आदर करनेवाला तो हमारा पुण्य क्षीण करता है और निरादर करनेवाला हमारा पाप नष्ट करता है। हमारा लाभ किसमें है, पाप रखनेमें कि नष्ट करनेमें? जो हमें दुःख देता है, अपमान करता है, निन्दा करता है, तिरस्कार करता है, वह हमारे पापोंका नाश करता है। जो हमारा आदर-सत्कार करता है, वाह-वाह करता है, वह हमारे पुण्योंका नाश करता है। हम पापोंका नाश करनेका उद्योग करते हैं, पर निरादर करनेवाला हमारे पापोंका नाश स्वतः ही कर रहा है। यह उसकी कितनी कृपा है! उसका हमारेपर कृपा करनेका आशय नहीं है, पर वह क्रिया तो हमारे लाभकी ही कर रहा है। वह हमारा हितैषी नहीं है, पर क्रिया तो हमारे हितकी ही कर रहा है। वह जो करता है, वह हमारे लिये ठीक ही होगा, बेठीक हो ही नहीं सकता।

एक मार्मिक बात है कि साधकके लिये कोई परिस्थिति अनिष्टकारी होती ही नहीं। संसारका जितना व्यवहार है, वह सब-का-सब साधन-सामग्री है। सुखदायी-दुःखदायी, अनुकूल-प्रतिकूल जो कुछ सामने आता है, वह सब साधन-सामग्री है। इसलिये साधकको सावधान रहना चाहिये। सावधानी ही साधना है। साधक वह होता है, जो हर समय सावधान रहता है।

दिलमें जाग्रत रहिये बन्दा।
हेत प्रीत हरिजज सूँ करिये, परहरिये दुखद्वन्दा॥

जब अच्छा और मन्दा होता है, राग और द्वेष होता है, तब हम जाग्रत् कहाँ रहे! अतः मैं साधक हूँ और मेरे साध्य परमात्मा हैं—इसकी जागृति रखते हुए साध्यकी प्राप्तिके लिये यथायोग्य बरताव करना है।

नारायण! नारायण! नारायण!

भगवान् श्रीरामके राज्यकालमें अयोध्याका वैभव

(श्रीअर्जुनलालजी बंसल)

भगवान् श्रीरामकी चरणरजसे पवित्रताको प्राप्त श्रीअयोध्यापुरी, जहाँ चारों ओर प्राकृतिक सौन्दर्य अपनी चरम सीमातक फैला पड़ा है, जिसे निहारकर ऐसा लगता है, जैसे कामदेव और रतिने इसे अपने हाथोंसे सजाया है। ऐसी परमपावन अयोध्यापुरी जहाँ प्रभु श्रीराम अपनी जीवन-सहचरी श्रीजानकीजीके संग विराजमान रहते हैं। वहाँकी दिव्यता और शोभाका वर्णन करते हुए संत तुलसीदासजीने श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें लिखा है—

अवधपुरी बासिन्ह कर सुख संपदा समाज।
सहस सेष नहिं कहि सकहिं जहँ नृप राम बिराज॥

जहाँ भगवान् श्रीराम राजारूपमें विराजते हैं, उस परमधामकी प्रजाको प्राप्त सुख और वैभवका वर्णन सहस्त्रों शेषजी भी करनेमें समर्थ नहीं हैं। जहाँ,

नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि कोसलाधीसा॥
दिन प्रति सकल अजोध्या आवहिं। देखि नगरु बिरागु बिसरावहिं॥
जातरूप मनि रचित अटारीं। नाना रंग रुचिर गच ढारीं॥
पुर चहुँ पास कोट अति सुंदर। रचे कँगूरा रंग रंग बर॥

श्रीनारदजी और सनकादि ऋषि-मुनि श्रीरामजीका दर्शन करने प्रतिदिन अयोध्या आते हैं और नगरकी भव्यता देख वैराग्य भूल जाते हैं। वहाँ स्वर्ण और रत्नजड़ित अटारियाँ हैं, जिनमें मणि और रत्नोंसे निर्मित फर्श बने हुए हैं। नगरके चारों ओर बने परकोटे सुन्दर-सुन्दर कंगूरोंसे शोभित हैं।

धवल धाम ऊपर नभ चुंबत। कलस मनहुँ रबि ससि दुति निंदत॥
बहु मनि रचित झरोखा भ्राजहिं। गृह गृह प्रति मनि दीप बिराजहिं॥

अयोध्याके भव्य महलोंकी ऊँचाई गगनको चूमती-सी दिखायी दे रही है, उनके ऊपर स्थापित कलश सूर्य और चन्द्रमाके तेजको भी लजा रहे हैं। महलोंमें मणि-रचित झरोखे और मणियोंके ही दीपक उनकी शोभा बढ़ानेमें अपनी सक्षमता सिद्ध कर रहे हैं।

मनि दीप राजहिं भवन भ्राजहिं देहरीं बिद्रुम रची।
मनि खंभ भीति बिरंचि बिरची कनक मनि मरकत खची॥
सुंदर मनोहर मंदिरायत अजिर रुचिर फटिक रचे।
प्रति द्वार द्वार कपाट पुरट बनाइ बहु बज्रन्हि खचे॥

मणियोंके दीपक और मूँगोंसे जड़ी देहलियाँ हर महलमें सुन्दर लग रही हैं। पन्नोंसे जड़ी स्वर्णकी दीवारें सबके आकर्षणका केन्द्र बनी हुई हैं। नगरके विशाल भवनोंके मध्यमें स्फटिकके आँगन बने हुए हैं। प्रत्येक द्वारके दरवाजे सोनेसे निर्मित हैं, जिनमें तराशे हुए हीरे जड़े हैं।

चारु चित्रसाला गृह गृह प्रति लिखे बनाइ।
राम चरित जे निरख मुनि ते मन लेहिं चोराइ॥
सुमन बाटिका सबहिं लगाईं। बिबिध भाँति करि जतन बनाईं॥
लता ललित बहु जाति सुहाईं। फूलहिं सदा बसंत की नाईं॥
गुंजत मधुकर मुखर मनोहर। मारुत त्रिबिधि सदा बह सुंदर॥
नाना खग बालकन्हि जिआए। बोलत मधुर उड़ात सुहाए॥

प्रत्येक भवनमें अंकित चित्रशालाओंमें बने प्रभु श्रीरामजीके जीवन-दर्शनपर आधारित सुन्दर चित्रावली ऋषियोंके भी मनको आकर्षित करनेमें पूर्ण सक्षम है। इसमें निवास करनेवाले प्रत्येक परिवारके सदस्योंने सुन्दर एवं मनभावन, रंग-बिरंगे पुष्पोंकी वाटिकाएँ बना रखी हैं। इनके मध्यमें अनेक प्रकारकी आकर्षक लताएँ बसन्त-ऋतुकी भाँति सदैव हरी-भरी रहती हैं। इन वाटिकाओंमें खिले सुगन्धित पुष्पोंपर भ्रमर मधुर गुंजार करते रहते हैं। शीतल, मन्द, सुगन्धित वायु सदैव प्रवाहित होती रहती है। छोटे बालकोंद्वारा पोषित अनेक प्रकारके पक्षी अपनी मीठी बोलीसे सबको प्रसन्न करते हैं और वे आकाशमें उड़ते हुए अति सुन्दर लगते हैं।

मोर हंस सारस पारावत। भवननि पर सोभा अति पावत॥
जहँ तहँ देखहिं निज परिछाहीं। बहु बिधि कूजहिं नृत्य कराहीं॥
सुक सारिका पढ़ावहिं बालक। कहहु राम रघुपति जनपालक॥
राज दुआर सकल बिधि चारू। बीथीं चौहट रुचिर बजारू॥

भवनोंकी मुंडेरोंपर बैठे मोर, हंस, सारस और कबूतर अति सुन्दर लग रहे हैं। ये सारे पक्षी दीवारोंमें जड़ी हुई मणियोंमें अपने प्रतिबिम्ब निहारकर मीठी बोली तो बोलते ही हैं, प्रसन्न होकर नृत्य भी करते हैं। छोटे-छोटे बालक अपने पालतू तोते और मैनाको राम-राम

बोलना सिखाते हैं। अयोध्याके राजद्वार, गलियाँ, चौबारे, चौराहे और बाजारोंकी सुन्दरता देखते ही बनती है—

बाजार रुचिर न बनइ बरनत बस्तु बिनु गथ पाइए।
जहँ भूप रमानिवास तहँ की संपदा किमि गाइए॥
बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहुँ कुबेर ते।
सब सुखी सब सच्चरित सुंदर नारि नर सिसु जरठ जे॥

श्रीअयोध्यापुरीके वैभवका वर्णन करते हुए सन्त तुलसीदासजीने लिखा है, इस दिव्य नगरीके व्यापारिक केन्द्र अति सुन्दर और सुव्यवस्थित ढंगसे बने हुए हैं। यहाँकी विशेषता यह है कि अमूल्य वस्तुएँ भी बिना मोलके मिलती हैं, कारण एक ही है कि यहाँके राजा भगवान् श्रीराम, साक्षात् लक्ष्मीजीके पति हैं। इनके राज्यमें सम्पत्तिका विवरण जानना लगभग असम्भव ही है। वस्त्रोंके व्यापारी, धनका लेन-देन करनेवाले वणिक् ऐसे लगते हैं मानो उनके वेषमें स्वयं कुबेरजी विराजमान हों। यहाँपर सारी प्रजा सुखी, सुन्दर और सदाचारी है। सन्त तुलसी आगे लिखते हैं—

उत्तर दिसि सरजू बह निर्मल जल गंभीर।
बाँधे घाट मनोहर स्वल्प पंक नहिं तीर॥

दूरि फराक रुचिर सो घाटा। जहँ जल पिअहिं बाजि गज ठाटा॥
पनिघट परम मनोहर नाना। तहाँ न पुरुष करहिं अस्नाना॥
राजघाट सब बिधि सुंदर बर। मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर॥
तीर तीर देवन्ह के मंदिर। चहुँ दिसि तिन्ह के उपबन सुंदर॥

नगरकी उत्तर दिशामें परमपवित्र आनन्ददायिनी सरयू नदी अपने आँचलमें निर्मल जल समेटे सदा प्रवाहित होती रहती हैं, इनके स्वच्छ तटपर बने घाट बड़े ही सुन्दर हैं। इस नदीपर घोड़ों और हाथियोंके जल पीनेके लिये अलग घाट हैं। अयोध्याकी नारियाँ जल भरने उसके लिये एक निश्चित घाटोंपर ही आती हैं। उन घाटोंपर पुरुषोंका प्रवेश वर्जित है। चारों वर्णोंके पुरुष जहाँ स्नान करते हैं, वह घाट सर्वप्रकारसे श्रेष्ठ है। इस पवित्र नदीके तटपर दूर-दूरतक सुन्दर और आकर्षक उपवनोंसे सुशोभित अनेक देवालय भी हैं और,

कहुँ कहुँ सरिता तीर उदासी। बसहिं ग्यान रत मुनि संन्यासी॥
तीर तीर तुलसिका सुहाई। बृंद बृंद बहु मुनिन्ह लगाई॥
पुर सोभा कछु बरनि न जाई। बाहेर नगर परम रुचिराई॥
देखत पुरी अखिल अघ भागा। बन उपबन बापिका तड़ागा॥

इस पवित्र नदीके किनारे-किनारे कहीं-कहीं विरल ज्ञानी सन्तजन निवास करते हैं, इन सन्तोंने अपने परिश्रमसे परम पवित्र तुलसीके पौधे और छायादार वृक्ष लगा रखे हैं। इस नगरकी शोभाका वर्णन करना लगभग असम्भव ही है। अयोध्यापुरीके दर्शनमात्रसे पाप नष्ट हो जाते हैं। वन, उपवन और सरोवरोंसे घिरा यह नगर सर्वथा दर्शनीय है।

बापीं तड़ाग अनूप कूप मनोहरायत सोहहीं।
सोपान सुंदर नीर निर्मल देखि सुर मुनि मोहहीं॥
बहु रंग कंज अनेक खग कूजहिं मधुप गुंजारहीं।
आराम रम्य पिकादि खग रव जनु पथिक हंकारहीं॥

इस अनुपम नगरमें अनेक बावड़ियाँ, सरोवर और कुएँ शोभायमान हैं, जिनमें रत्ननिर्मित सीढ़ियाँ और निर्मल जल देवताओंके भी आकर्षणका केन्द्र बने हुए हैं। सरोवरोंमें खिले भिन्न-भिन्न रंगोंके कमल-पुष्पोंपर भ्रमर गुंजार करते रहते हैं। इनके निकट ही अनेक प्रजातियोंके पक्षी चहचहाते हुए सबके मनको आकर्षित करते रहते हैं। उपवनोंमें आम्रवृक्षकी डालियोंपर बैठी कोयल अपनी मधुर-वाणीसे राह चलते पथिकोंका मन मोहतीं रहती हैं।

रमानाथ जहँ राजा सो पुर बरनि कि जाइ।
अनिमादिक सुख संपदा रहीं अवध सब छाइ॥

जहाँके राजा लक्ष्मीपति भगवान् श्रीराम हैं, उस नगरके वैभवका वर्णन भला कौन कर सकता है?

ऐसे कृपालु भगवान्‌के प्रति आस्थावान् एवं तन-मनसे समर्पित उनकी प्रजाके भावोंको प्रकट करते हुए तुलसीबाबाने लिखा है—

जहँ तहँ नर रघुपति गुन गावहिं। बैठि परसपर इहइ सिखावहिं॥
भजहु प्रनत प्रतिपालक रामहि। सोभा सील रूप गुन धामहि॥

अयोध्याके राजा प्रभु श्रीरामजीके प्रजाजन जहाँ बैठ जाते हैं, वहीं उनके गुणोंका बखान करने लगते हैं, उनकी एक ही विचारधारा होती है कि ऐसे श्रीरघुनाथजीका स्मरण करो, जो शोभा, शील, रूप और गुणोंके महासागर हैं।

आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त करनेका अचूक साधन

(ब्रह्मलीन वीतराग स्वामी श्रीदयानन्दगिरिजी महाराज)

आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको चाहिये कि वह अपने मनकी जो शक्ति बाहर भटकी हुई है, उसे अपने अन्दर इकट्ठा करे तथा इसके लिये जिस-जिस अभिप्रायसे मन बाहर बिखरा हुआ है, उस-उस अभिप्रायके बन्धनसे मन मुक्त होता जाय। ऐसा होनेपर उसकी प्राण-शक्ति भी बाहरसे मुक्त होकर अन्दर (अपने-आपमें) एकत्रित होती जायगी। इस सच्चाईके ज्ञानके लिये मनुष्य ध्यानमार्ग अपनाये। ध्यानका अभिप्राय यही है कि जो समझ अभी वस्तुओंको बाह्य संसारमें समझ रही है, वह अपने अन्दर ऐसे जाग जाय कि अपने जीवनको समझनेके लिये इसकी आँख अन्दर खुले। ताकि उसीके अनुरूप मनुष्यके संकल्प, इरादे एवं भाव बनें और उन्हींके अनुसार ही उसके कर्म (यत्न) हों। यदि आपने अपने अन्दर यह पहचान लिया कि बाहरके सुखोंसे मुख मोड़नेमें ही आनन्द है तो भाव भी यही रहेगा कि कब इनसे मुक्ति मिले? यह सब भावकी ही सारी महत्ता है।

अब रही वह आदतकी शक्ति प्रकृति, जो कि बहुत दिनोंसे साथ चिपकी हुई है तथा जो मुड़-मुड़कर फिर-फिर बाहरके सुखोंमें ही धँसनेके लिये धक्का-सा देती है—इससे छुटकारेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य थोड़ा समय निकालकर एकान्तमें अपने आसनपर बैठे तथा और भी अपने सामान्य जीवनमें थोड़ा दु:ख सहन करनेकी आदत डाले, जिसके बिना इस शक्तिका क्षय नहीं होगा। यह आदत धीरे-धीरे ही बनी है और धीरे-धीरे ही समाप्त होगी। पर यह भी ध्यान रहे कि इन दु:खोंको सहन करते समय मनुष्य न तो रोये और न ही बाहर दूसरोंसे शिकायत करे एवं बाहर अपना व्यवहार (बरताव) भी सही रखे। अर्थात् धैर्यपूर्वक दु:खोंको साक्षी भावसे सहन करता रहे।

इसके साथ ईश्वर-भक्ति भी करनी होगी। सबके अन्दर व्यापक 'तू-तू', 'मैं-मैं' देखनेके बजाय सबमें एक परमात्मा देखना है, यही उत्तम रहेगा। वह एक चेतन ही तो है, जो सब जीवोंको जीवित रख रहा है, उसी परमेश्वरको ही अपने मनके अन्दर पहचानना है। इसके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य बाहरकी उलझनसे पहले निकले। उसी उलझनसे निकलनेके लिये भगवद्भक्ति कही गयी है अर्थात् 'मैं' तो ज्यादा अपनी रखनी ही नहीं। 'मैं' तो भगवान्‌को अर्पित कर देनी है कि 'मैं' उसीकी है और स्वयं अपनी त्रुटियोंका विचार करता हुआ मनुष्य अपने जीवनकी ही घटनाओंसे सीखता रहे, आगेके लिये वैसी त्रुटि न हो, इसके लिये यत्न (कोशिश) करे और अपने-आपको लेकर ही, व्यावहारिक रीतिसे करनेके ढंगसे इतना तैयार कर ले जिससे कि नित्यप्रति अपना जीवन उन्नत होता जाय तथा यहाँतक हो जाय कि अपनी आत्मामें आकर टिक जाय, न कि संसारमें ही बहते रहनेका भाव रखे। जबतक मनुष्य अपनी आत्मामें टिकेगा नहीं, सुख-शान्ति नहीं होगी। इसीलिये बार-बार यही कहा जा रहा है कि मनुष्य अन्दरके बन्धनोंको पहचाने एवं उनसे मुक्त हो। इन बन्धनोंमें अविद्या सबसे बड़ा बन्धन है। अविद्यामें पड़ा हुआ मन बाहर ही कुछ-न-कुछ जाननेके लिये झुका रहता है, यह बहुत बड़ा बन्धन है। इससे मुक्तिके लिये मनको बार-बार विश्लेषण करके जँचा दे कि संसारकी सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं अर्थात् जिससे आज उसे सुख मिल रहा है, वह कलको उसे दु:ख देना शुरू कर देगा, अत: उन्हें छोड़ना ही हितकर है। सतत प्रयत्नोंसे धैर्यके साथ मनको सही मार्गपर प्रेरित करनेसे अन्तत: सफलता मिलेगी।

मनुष्यद्वारा अन्दरके बन्धनोंको पहचानने एवं मुक्त होनेके प्रयत्नोंमें ज्ञानको जगाते समय स्वयं इतना जाग्रत् रहना है कि आलस्य, सुस्तीके क्षणोंमें भी प्रकृति उसपर पुन: सवार न हो सके। ऐसी अवस्थामें यदि आलस्य, निद्रा भी तंग करे, तो छानबीनकर अर्थात् विश्लेषण करके उसे हटाये। आलस्य और निद्रा जब आते हैं, तो मन सोनेके अलावा और कुछ नहीं करना चाहता। ऐसेमें

मनुष्य मनको निद्राके सुखको छोड़नेके लिये समझाता (तैयार करता) हुआ, क्षण-क्षण निद्राको टालता हुआ जागता रहे अर्थात् निद्रा आना भी चाहे और साधक उसको ग्रहण करनेके लिये तैयार न हो—यही मनको जगानेका मार्ग है, पर जैसे ही मन जगेगा फिर प्रकृति वही बीती बातोंके संस्कारोंको ला-लाकर सामने खड़ा करेगी, उनके बारेमें ही सोचोंमें डालेगी। ऐसेमें साधकका यही कर्तव्य है कि जिस भी कारणसे मन बाहरकी ओर झुकने लगे, तो उसकी सत्यताका विचार करने लग जाय। ऐसा करनेसे उन सब वस्तुओंकी अच्छाई, जो कि संस्कारवश मनपर पड़ी हुई थी, मनसे उतर जायगी। अत: साधकको सदैव याद रखना है कि जब भी वह मनको जगाना चाहेगा, तो मनपर लदा हुआ काम (इच्छा) ही आकर परेशान करेगा। इसके लिये उसे इसके विकार एवं दोष देखकर अपने मनको यह महसूस (अनुभव) करनेतक लाना होगा कि जबतक 'संसारमें एक तिनके जितना भी काम (इच्छा) वाला मन, जो कुछ बाहर करेगा, तो समझो! उससे अपनी ज्ञान-शक्ति ही बाहर भटकेगी, जिससे कि प्राण-शक्ति भी बाहर ही भटकेगी तथा जिसका परिणाम यह होगा कि अन्दर खोटी गाँठ पड़ेगी और फिर इस सत्यको जाननेके लिये कायाका योग जाग जायगा।'

कायाके योगसे क्या अभिप्राय है कि आप बड़े आरामसे बैठे-बैठे यह महसूस कर रहे हैं कि 'देखो भाई! जिस वस्तुकी तरफ मेरा मन गया है, वह देखनेमें तो बड़ी अच्छी प्रतीत हो रही है, परंतु साफ दीख रहा है कि इसमें रखा कुछ भी नहीं, जैसे ही उसके लिये मन अन्दर सोचोंमें पड़ा हुआ नजर आये और साथ ही श्वास भी अन्दर घुट-घुटकर चल रहा है, जिससे श्वास लेनेमें भी तंगी भी हो रही है। फिर आप तुरंत ही पहचान जाओगे कि इस तंगीका कारण यही है कि मन उस वस्तु (चीज)-की सोचोंमें पड़ा हुआ है। ऐसा होनेपर फिर आपको किसी दूसरेद्वारा बताये जानेकी आवश्यकता नहीं है कि बाहर खोटा है या बाहर मनका जाना बुरा है। यह तो आपने तब देखा, जब आपको कायाका योग जाग गया अर्थात् मन कायाके साथ जुड़ गया। मन कायाके साथ तभी जुड़ेगा, जब बाहरके बारेमें अन्दरसे ही उसकी तुच्छता एवं मात्र 'थोड़ी देर रहनेवाला सुख' जो अनर्थमें ही समाप्त हो, समझमें आ जाय। तब धीरे-धीरे बाहरका चिन्तन छोड़ते हुए, बाहरके सुखोंसे पूर्णरूपसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा। आपका श्वास भी पूरा चलने लगेगा और देहमें प्रसन्नता भी छा जायगी, मन हलका हो जायगा। ऐसेमें अगर प्राणी मर भी जायगा तो उत्तम लोकोंको प्राप्त होगा और नहीं तो कम-से-कम मनुष्ययोनिमें जन्म लेकर कल्याणमार्गपर चलेगा।

क्या मैं करता हूँ, कैसे चलूँ?
करूँ वह मैं न जिससे डरूँ।
वश में देहादि कर जो चल सका;
कुछ समझा, सीखा जीवन (पर) जो न थका॥

मनुष्य प्रथम अपने बाह्य कर्तव्योंसे निवृत्त होकर तथा रात्रिमें सोनेसे पूर्व थोड़ा एकान्तमें शान्त भावसे बैठकर अपने जीवनपर या दिनचर्यापर दृष्टि डाले कि 'मैं क्या करता हूँ और पुन: कैसे मुझे चलना उचित है?' और मुझे उस प्रकार अपने-आपको चलाना चाहिये और वैसे ही बाहर कर्म करना चाहिये, जिससे कि मेरे भविष्यमें सारे भय न बनें, अर्थात् भविष्यमें कोई दु:ख भी न हो। इसका तात्पर्य यह है कि समयकी उत्तेजना (जोश)-के वशमें मनुष्य कुछका कुछ काम, क्रोध, लोभ आदिके वशीभूत होकर कर बैठता है, परंतु वह अच्छा नहीं होता, उसमें विवेककी कमी रहती है। इसलिये देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिको वशमें रखकर जो संसारमें अपनी भलाई (विवेकद्वारा)-को सही समझकर चल सका, तो वह प्रत्येक घटना-चक्रको ध्यानपूर्वक अध्ययन करके, उसमें निहित अनर्थ (पाप)-को पहचानते हुए, सीखते हुए एवं बचते हुए कर्म करेगा। इस प्रकार वह अपना सारा जीवन समझने एवं सीखनेमें लगा देगा तथा धर्मके उद्योगका भाव भी बनाये रखेगा। समझने एवं सीखनेमें थकान न माने।

[प्रेषक—श्रीज्ञानचन्दजी गर्ग]

श्रीराधाकृष्णकी दैनन्दिनी लीला

[मध्याह्नोत्तर]

(श्रीराधाबाबा)

[गीता-वाटिकामें एक उच्च कोटिके सन्त श्रीराधाबाबा आदिसम्पादक पूज्य श्रीभाईजीके साथ निवास करते थे। भगवान् श्रीराधाकृष्णके वे परम भक्त थे। यदा-कदा लीलापुरुषोत्तम भगवान् राधाकृष्णकी अन्तरंग लीलाओंका दर्शन उन्हें होता था, जिसकी अभिव्यक्ति कभी-कभी वे अपनी डायरीमें कर देते थे। यद्यपि ये लीलाएँ वस्तुतः सर्वसाधारणकी समझके बाहरकी बातें हैं, फिर भी कुछ भक्तोंके विशेष आग्रहसे इसके कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं। राधाजी एवं गोपियोंकी साधनामें तत्सुखसुखित्वका भाव मुख्यरूपसे था, प्रस्तुत लीलामें यही भाव अभिव्यक्त हुआ है।—सम्पादक]

'प्रियतम! देखो सही, मेरी कैसी विचित्र दशा है। यह निकुंजस्थल है, निकुंजस्थलकी बात मैं इसलिये कह रही हूँ कि मुझे रह-रहकर द्रुम-वल्लरियाँ दीखने लगती हैं····कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण····फिर तुरन्त तुम्हीं-तुम असंख्य-असंख्य दीख रहे हो···· कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण और इन द्रुम-वल्लरियोंमें भी तुम समाये दीख रहे हो, कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण···· अभी दीखा—तुमने मुझे जल पिलाया; पीताम्बरसे मेरा मुँह पोंछा; इससे पहले तुमने मेरे चरण दबाये। किंतु मेरी ये सब सेवाएँ तो मेरी बहनें कुन्दवल्ली, ललिता, विशाखा आदि किया करती थीं; उन सबोंने ही की होंगी; पर वे सब तो बिलकुल ही नहीं दीख रही हैं! प्राणनाथ! सर्वत्र-सर्वत्र केवल-केवल तुम-ही-तुम, तुम-ही-तुम, तुम-ही-तुम दीख रहे हो, प्राणनाथ! प्रियतम, प्रियतम प्रियतम प्रियतम प्रियतम···· कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण····।

'अच्छा, बोलो, कहाँ चलोगे? ····पाशक कुंजमें। ····कृष्ण ····अच्छा चलो! कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण····।'

'····पर मैं क्या पाशा खेलूँगी, प्राणनाथ! न तो मुझे चौपड़पत्र दीख रहा है, न कौड़ियाँ दीख रही हैं, न पाशा दीख रहा है। केवल-केवल तुम तुम तुम तुम तुम तुम तुम ही दीख रहे हो। आधे क्षणके लिये ये दीखते भी हैं तो मुझे तुम तुम तुम तुम तुम तुम तुम ही उनमें समाये दीखते हो; मैं डर जाती हूँ, पाशा फेकूँगी तो तुम्हें चोट लग जायगी; कौड़ियाँ उछालूँगी तो तुम्हें चोट लग जायगी और फिर मैं जीत भी गयी तो लाभमें तुम-ही-तुम, तुम-तुम-तुम, तुम्हीं-तुम्हीं-तुम्हीं रहोगे; क्योंकि तुम-तुम-तुम····और जीत गयी तो तो तो तो तो···· कुछ मैं तुमसे कह रही थी, प्राणनाथ! तुमसे तुमसे तुमसे···· अरे, भूल गयी मैं तो···· तुम तुम तुम स्मरण दिलाओ···· ठीक-ठीक···· और यदि मैं हार गयी तो तुम लाभमें हो ही, इसमें कहना ही क्या है। तुमने शर्त ही ऐसी बना रखी है। और फिर दाँवपर भी किसे रखूँगी, सर्वत्र केवल तुम तुम तुम तुम्हीं तुम तुम दीख रहे हो। तुम्हारे अतिरिक्त बहन मंजुश्यामा अवश्य दीख रही है; किंतु यदि उसे दाँवपर रख दूँगी तो तुम उसे तंग करने लगोगे, बड़ी देर हो जायगी। चलो, प्रियतम! रवि मन्दिरमें चलें···· कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण····।

× × ×

'क्यों बहन, तू मेरे चरण धोकर क्या करेगी, री!'

'तू बता तो सही!'

'अच्छा, तुझे सुख है तो ले, धो ले।'

'ओ हो, अब मैं समझी, प्रियतम! अब मैं समझी, प्रियतम! अब मैं समझी, प्रियतम! प्रियतम प्रियतम प्रियतम प्रियतम प्रियतम प्रियतम···· मेरे प्राणनाथ! यदि सचमुच सचमुच सचमुच सचमुच, सचमुच ही, सचमुच ही, सचमुच ही तुम्हें सुख हो, तुम्हें सुख हो, तुम्हें सुख होता हो, तुम्हें सुख होता हो, तुम्हें सुख होता हो, तुम्हें सुख होता हो, तुम्हें सुख होता हो, तुम्हे सुख होता हो, ····तो ओ हो, प्रियतम प्रियतम प्रियतम! अब समझी, अब समझी, अब समझी—तुम मेरा चरणोदक! हाय रे! हाय

रे, हाय रे, हाय रे, मुझ अधमाका चरणोदक! मुझ मलिनाका चरणोदक, मुझ अधमाका चरणोदक, मुझ मलिनाका चरणोदक, मुझ अधमाका, मुझ अधमाका, मुझ अधमाका, मुझ अधमाका, मुझ अधमाका, मुझ अधमाका, मुझ अधमाका, चरणोदक चरणोदक चरणोदक चरणोदक चरणोदक⋯तुम तुम तुम तुम तुम⋯लेना चाह रहे थे, लेना चाह रहे थे, लेना चाह रहे थे, लेना चाह रहे थे⋯इसीलिये तो लिया, इसीलिये तो लिया, इसीलिये तो लिया, इसीलिये लिया लिया लिया लिया⋯मेरी बहनको, मेरी बहनको, मेरी बहनको, मेरी दृगपुतरी बहनको, दृगपुतरी बहनको तुमने तुमने तुमने, शत-शत मनुहारसे, मनुहारसे, शत-सहस्र मनुहारसे, शत-सहस्र⋯शत-सहस्र प्रियतम प्रियतम, प्रियतम प्रियतम⋯तुमने तुमने मेरी दृगपुतरी बहनको प्रसन्न कर लिया⋯और उसने उसने उसने मुझे बतलायी नहीं यह बात, बात, बात, बात प्रियतम प्रियतम प्रियतम प्रियतम और और उसने बहानेसे मेरे अंगुष्ठको, चरणके अंगुष्ठको धो लिया और और और और उसने तुम्हारे मुखसरोजमें, मुखसरोजमें, मुखसरोजमें, मुखसरोजमें, हाय रे, हाय रे, हाय रे, उसने डाल दिया, डाल दिया, और तुम पी गये⋯हाय रे, हाय रे, हाय रे, आकाश! तू फट जा, अभी फट जा, अरे आकाश, प्रियतम! प्रियतम प्रियतम....शतसहस्र प्रियतम, शतसहस्र प्रियतम, अरे आकाश, अरे आकाश, अरे आकाश, अरे अरे पाताल, पाताल, पाताल, अरे आकाश, अरे पाताल⋯ तू फट जा, तू अभी, इसी क्षण फट जा और मुझे स्थान दे दे, मैं सदाके लिये, अनन्तकालतकके लिये इसीमें विलीन हो जाऊँ⋯अरे मत फट आकाश, आकाश, भूल हो गयी रे, क्षमा कर दे तू तू, तू⋯क्षमा क्षमा, क्षमा, क्षमा⋯अरे देख रे आकाश, मेरे प्राणनाथ, प्रियतम नन्दनन्दनकी साँस तेज चलने लगी, मुझमें प्रीति नहीं रे, मैं मैं मैं विलीन नहीं हो सकूँगी, उससे पहले ही मेरे प्रियतम मेरे प्रियतम तुममें समा जायँगे रे, वेदनाकी, वेदना, वेदना, भावी वेदनाकी आशंकामात्रसे देख देख देख आकाश रे, देख, साँस तेज चलने लगी, तेज तेज चलने लगी⋯नहीं, नहीं, नहीं, तुम तुम तुम मेरे प्रियतम, प्रियतम जब चाहो, ले लेना मेरा चरणोदक, नहीं रोकूँगी तुम्हें, नहीं रोकूँगी, कैसे रोक सकती हूँ, कैसे रोक सकती हूँ, मेरा सम्पूर्ण अस्तित्व, अस्तित्व मेरा अनादि अनन्त जीवन, अनादि अनन्त जीवन केवल केवल केवल तुम्हारे सुखके लिये है, तुम्हारे सुखके लिये है, तुम्हारे सुख के लिये है, तुम्हारे सुखके लिये है, तुम्हारे लिये प्रतिक्षण, प्रतिपल नवीन नवीन नवीन सुखका सृजन करनेके लिये है; इसके अतिरिक्त, इसके अतिरक्त, इसके अतिरिक्त, मेरा कोई धर्म नहीं, कोई कर्म नहीं, कोई धर्म नहीं, कोई कर्म नहीं, कोई धर्म नहीं, कोई कर्म नहीं, कोई धर्म नहीं, कोई कर्म नहीं, प्रियतम प्रियतम प्रियतम प्रियतम प्रियतम प्रियतम⋯ किंतु बहन री, मैं तुझे एक बात कहती हूँ⋯तू यदि कभी भी इस उद्देश्यसे मेरे चरणोंको धोये तो पहले पर्याप्त जलसे मेरे मेरे दोनों चरणोंको अच्छी तरह, भली-भाँति धो देना, जिससे एक भी धूलि-कण मेरे चरणोंमें न रह जाय, बड़ी सावधानीसे धोना, जिससे एक भी धूलि-कण न रह जाय। अन्यथा यदि एक भी धूलिकण, एक भी रजकण यदि प्रियतमके मुखसरोजमें चला गया तो इनके मृदुलतम मुखमें क्षत लग जा सकता है और फिर मुझे अपार अपार अपार वेदना होगी। अतएव यदि, प्रियतम प्रियतम प्रियतम⋯अतएव बड़ी सावधानीसे मेरी इस रुचिका, अरी बहिन, सुनती है, अरी बहिन, अतएव बड़ी सावधानीसे मेरी इस रुचिका पालन अवश्य अवश्य अवश्य करना—यदि तू कभी भी इस उद्देश्यसे मेरे चरणोंको धोये तो⋯प्रियतम प्रियतम प्रियतम यदि सचमुच सचमुच सचमुच तुम्हें सचमुच सचमुच ही, सचमुच ही, सचमुच ही, तुम्हें इसमें सुख होता हो तो ले लो मेरे चरणोदक, प्रियतम! कैसे रोक सकती हूँ तुम्हें, प्रियतम प्रियतम प्रियतम प्रियतम!⋯बहन री मेरी, इस रुचिका पालन अवश्य अवश्य अवश्य करना, यदि तू कभी भी मेरे चरणोंको इस उद्देश्यसे धोये तो⋯प्रियतम प्रियतम प्रियतम⋯कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण⋯प्रियतम प्रियतम प्रियतम चलो, अर्चना करे लें⋯कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण⋯।

[प्रेषिका—सुश्री शैवालिनी]

सन्त कबीरका चिन्तन-संसार

(श्रीकन्हैयासिंहजी विशेन)

कबीरकी अनुभूतियाँ उनके काव्यमें मार्मिक और हृदयस्पर्शी ढंगसे अभिव्यक्त हुई हैं। काव्यका प्रादुर्भाव मानवीय संवेदनाके उदात्तीकरणकी अवधारणासे संश्लिष्ट माना जाता है। कोई भी कालजयी कवि इसका अपवाद नहीं हो सकता है। आत्मचिन्तनकी मन:स्थितिमें कबीर अपने अनुभवोंको व्यक्त करते हुए कहते हैं—लोग बड़ी ही कुशलताके साथ अपनी बातोंसे संसारको आकर्षित करते हुए अपने लक्ष्य-प्राप्तिहेतु कटिबद्ध हैं, लेकिन वास्तवमें उनकी बातोंका कोई असर पड़ता दिखता नहीं; क्योंकि उनके मनमें कपट है, कथनी करनीमें विरोधाभास है। वे अन्दरसे सरल शान्त और सन्तुष्ट नहीं हैं। वे अपने मनके साथ परदोषदर्शन एवं कुटिलतापूर्वक स्वार्थ-सिद्धिमें ही संलग्न हैं। फिर अहंकारके वशीभूत होकर उन्हें जन्म-जन्मान्तरतक चौरासी लाख योनियोंमें जन्म-मरणके चक्रमें पड़नेसे भला कौन रोक पायेगा? देखें—

बात बनाई जग ठग्यो, मन पर बोधा नाहि।
कहै कबीर मन लै गया, लख चौरासी माहि॥
दोष पराया देखि कै चले हसन्त हसन्त।
अपना याद न आवई जाका आदि न अन्त॥
तन का बैरी कोई नहीं, जो मन शीतल होय।
तू आपा को डारि दे, दया करै सब कोय॥

धनके सम्बन्धमें कबीरका 'कमेन्ट' बड़ा ही सटीक, प्रभावोत्पादक और 'आँखिनकी देखी'—अनुभूतिको प्रस्तुत करता है। कबीरका विचार है कि धन हमेशा रहता नहीं, शरीरमें बल भी अस्थायी है, इतना ही नहीं व्यक्तिका नाम, ग्राम, पता भी कालके गालमें समा जाता है, लेकिन धन और बलके रहते हुए यदि किसीका कोई भी काम कर दिया जाता है तो वह व्यक्ति यशस्वी होता है। इतना ही नहीं, धन होनेपर 'दान' करना अथवा अपने उपभोगमें लाना ही उचित होता है; क्योंकि इसके अभावमें धन रोग, शोक, संतापका जनक होता है। कवि मायाको वेश्याकी श्रेणीका मानता है; क्योंकि दोनोंमें एक कटु सत्य है, दोनों आगमनपर आदर करती हैं और जाते वक्त बिना बात किये उपेक्षा करती हुई चली जाती हैं। ऐसा नहीं है कि कबीर मायाकी निन्दा ही करते हैं। वे उसकी प्रशंसा भी करते हैं कि सम्यक् रूपसे विवेकपूर्वक मायाका उपयोग व्यक्तिको मुक्तिकी ओर अग्रसर करता है, जबकि मायाका अन्धसंचय, नरकका मार्ग प्रशस्त करता है—

धन न रहै न बल रहै, रहै न ग्राम न ठाम।
कबीर जग में जस रहै, कर दे किसी का काम॥
धन पावै कछु दान कर अथवा कीजे भोग।
दान भोग बिन धन गहै, वृथा बटोरत रोग॥
कबीर माया वेसवा, दोनों की इक जात।
आवत को आदर करै जात न पूछै बात॥
कबीर माया रूखड़ी, दो फल की दातार।
खावत खरचत मुक्ति भय, संचत नरक दुआर॥

जीवन और जगत्‌का सूक्ष्म निरीक्षण चिन्तनशील व्यक्तित्वकी बोधगम्यताका प्रतीक है। कबीर भी इसके अपवाद नहीं हैं। प्राय: सभी लोग कभी-न-कभी जंगल, झाड़ी और वृक्षोंके सम्पर्कमें आते हैं, इनको देखते हैं, लेकिन इनके सुख-दु:ख और आपसी संवादको सुनने और समझनेकी, उनसे शिक्षा और मार्गदर्शन प्राप्त करनेकी चेष्टा कबीरकी अपनी विशेषता है। प्रकृतिसे तादात्म्य स्थापितकर अपनी अनुभूतियोंकी सम्यक् अभिव्यक्तिके विरलतम प्रसंगोंमें कबीर 'वृक्ष, पत्ते एवं झाड़' के माध्यमसे शाश्वत सत्यका सन्देश देते हैं। यहाँ वृक्ष; (पतझड़)-का आगमन देखकर विषादग्रस्त होकर मनमें रुदन करते हुए कहता है कि हमारी ऊँची शाखाओंपर स्थित पत्ते धीरे-धीरे पीले होते जा रहे हैं और शीघ्र ही वे गिर जायँगे। वृक्षकी मन:स्थितिका आभास पाकर पत्ता वृक्षसे कहता है कि तुम दुखी न हो और अब हमारे गिरनेमें विलम्ब नहीं है, लेकिन शीघ्र ही बसन्तऋतु आ रही है, जिसमें चतुर्दिक् हरी कोंपलें और पत्ते बहुतायतसे आ रहे हैं, जहाँ हमारे-जैसे

असंख्य सहयोगी आपके पास विद्यमान होंगे। सामान्य मनोभूमिमें आनेपर वृक्ष पत्तेसे कहता है कि यह हमारे घरकी सामान्य-सी बात है, जहाँ एक आता है और एक जाता है, पुराने पत्ते झड़ते हैं और नये पैदा होते हैं अर्थात् पतझड़के बाद बसन्तका आगमन एक शाश्वत नियम है। इसके बाद पत्ता वृक्षसे कहता है—अबकी टूटकर गिरनेके बाद बिछुड़नेपर मैं हवाके झोंकेसे बड़ी दूर चला जाऊँगा, पुनः आपसे मिलना नहीं हो सकेगा—

ना जानी मिलना कब होई।
आओ संतों हिल-मिल लेई, वाद विवाद करौ जनि कोई॥
बिछुड़े हंस महादुःख होई............।

नेपथ्यमें हवा चलती है और पत्ता टूटकर वृक्षके नीचे स्थित झाड़ियोंमें उलझ जाता है और वह पुनः झाड़से कहता है, अब भला तुझे क्या सूझी है, तुमने मुझे क्यों रोक लिया है, जिस प्रकार वृक्षने मुझे त्याग दिया है, उसी प्रकार तू भी मुझे चला जाने दे; क्योंकि अब मैं किसीके लिये उपयोगी नहीं रह गया। जीवन और मृत्यु, जड़ और चेतन, सुख और दुःख, मोह और स्वार्थ, विनाश और निर्माणकी कितनी सटीक, सरल, शाश्वत और हृदयस्पर्शी व्याख्या कितनी सहजतासे अभिव्यक्त हुई है—

फागुन आवत देखि के वन रोता मन माँहि।
ऊँची डारी पात था पियरा ह्वै ह्वै जाँहि॥
पात जो तरवर से कहै, विलम्ब न मान्यो मोर।
आयी रितु जो बसंत की जहाँ जाऊँ तह तोहि॥
तरुवर कहता पात से सुनो पात एक बात।
यहि घर याही रीत है एक आवत एक जात॥
पात झरन्ता यों कहै सुन तरुवर वनराय।
अबके बिछुड़े ना मिलै दूर पड़ेंगे जाय॥
कहे पात वा झाड़ से कहा पड़ी अब तोहि।
ज्यो वा तरुवर ही तज्यो चलौ जान दे मोहि॥

व्यक्तिकी पहचान उसके गुण, स्वभाव, आचरणसे होती है, न कि उसके रूप, रंग, परिधानसे—इसकी अभिव्यक्ति चन्दन वृक्षकी नियतिसे द्रष्टव्य है। जहाँ शुष्क लकड़ियोंके ढेरमेंसे चन्दनकी लकड़ीकी पहचान पलाशकी लकड़ीसे करते हुए उसे चूल्हेमें जलानेके लिये डाला जाता है, किंतु अग्निका स्पर्श पाकर चन्दनकी मादक सुगन्ध पर्यावरणमें व्याप्त हो जाती है। जैसे-जैसे चन्दन अधिकाधिक प्रज्वलित होता है, उसी प्रकार उससे प्रसूत सुगन्धकी मात्रा बढ़ती जाती है, तब लोग उसकी पहचान 'चन्दन' की लकड़ीके रूपमें करते हैं। ठीक इसी प्रकार सामान्य वेशभूषामें समीप ही रहनेवाले व्यक्तियोंको समाज बहुत देरसे उनकी पहचान कर पाता है और जब अपने खास आत्मीय, विश्वस्त, पालित और पोषित लोग ही परिस्थिति एवं स्वार्थवश शत्रुओं-सा व्यवहार करते हैं और अपने ही संरक्षकके नाशमें तत्पर हो जाते हैं, जब बड़ी मर्मान्तक पीड़ा होती है और यह कटु एहसास होता है कि वास्तवमें कोई किसीका सच्चा हितैषी नहीं है और सारी ममता और मोहका कलेवर स्वार्थजनित है, जिसमें लोग जन्मसे लेकर मृत्युतक तल्लीन रहते हैं। चन्दनकी विडम्बना भी यही है, जो बड़ी दुःखदायिनी है; क्योंकि जिस सुगन्धको उसने अपने पेटमें बड़े जतनसे छिपाकर रखा था, वही सुगन्ध उसकी मृत्युका कारण बन गयी; क्योंकि चन्दनकी सुगन्ध लकड़ीके अन्दर रहती है, जो काटने, घिसने, जलानेपर ही अपने आस-पास अपनी सुगन्धका प्रसारण करती है। त्रासदी यह है कि जिस पक्षीने उसके ऊपर रातमें विश्राम किया था, उसीने उसका अता-पता बताया और फलस्वरूप चन्दनका वृक्ष काटा गया, उसकी जड़ें भी निकाल ली गयीं—यह सब उसके आश्रित पक्षीका ही उपकार रहा, जिससे उसका समूल अस्तित्व ही समाप्त हो गया—यह है अपनोंकी चोट।

कबीरदासजी कहते हैं—

चंदन गया विदेश को सब कोई कहै पलाश।
ज्यों-ज्यों चूल्हे झोकियाँ त्यौं-त्यौं अधिक सुवास॥
चंदन रोया रात भर मेरा हितू न कोय।
जिसको राखा पेट में सो फिर बैरी होय॥
चंदन काटा जड़ि खनी बाँधि लिया सिर भार।
काल्हि जो पंछी बसि गया तिसका यह उपकार॥

आश्चर्य है कि समस्त सुख-सुविधाओंसे सम्पन्न

मानव दुखी है, उसके जीवनमें सुख-शान्ति नहीं है। उसके पास धन है, मकान है, दुकान है, व्यापार है, नौकरी है, लेकिन सुख नहीं है। वह चिन्तित, क्षुब्ध, उदास और अवसादग्रस्त है। कारण है कि वह सुख-शान्तिकी खोजमें बाहर भटक रहा है, जबकि वांछित सुख-शान्ति बाहर नहीं, अन्दर ही है। आज मनुष्यके अपने ही दृष्टिदोषसे, सोचसे, सुखकी खोज बाह्य वस्तुओंपर केन्द्रित है। वह दूसरोंको सुखी मानता है; क्योंकि मनकी भूल-भुलइया उसे क्षणभर भी विश्राम नहीं लेने देती है और वह अपने पास उपलब्ध सुख-साधनोंका उपभोग न कर दूसरोंकी तुलना करते हुए अपनेको जला रहा है, जबकि तथागतने पूर्वमें ही कहा है कि 'जन्म ही दु:खोंका मूल है, संसारमें विरले ही सुखी हैं, जिन्हें हम सुखी मानते हैं, उनके भी अन्तस्‌में दु:खोंकी भीषण ज्वाला धधक रही है। यदि आप उनका दु:ख सुनेंगे तो आप अपना दु:ख भूल जायँगे।

वास्तविकता यह है कि हमें मानसिकता परिवर्तित कर सुख-दु:खकी अवधारणापर शान्तचित्तसे विचार करना चाहिये। मनको निर्मल करते हुए, समताके साथ, स्वार्थभावनाको त्यागकर हम शाश्वत सुख-शान्ति प्राप्त कर सकते हैं। जरा ध्यान दें 'फूलों' को देखें, न उन्हें भूतकी चिन्ता है न भविष्यकी। वर्तमानमें ही कितने प्रसन्न—मस्तीसे झूमते हुए खिले हैं। काश! हम भी ऐसा कर पाते—रही सुख-दु:खकी बात तो वास्तवमें सुख-दु:ख सहोदर हैं। सुखको सब चाहते हैं, दु:खको कोई नहीं चाहता। गम्भीरतासे विचार करनेपर दु:ख कल्याणकारक होता है। तभी तो विचारशील व्यक्ति दु:खको तरजीह देता है। दु:ख हमारे अन्दर विचार जगाता है। वैराग्य उत्पन्न करता है। संसारके प्रति आसक्तिको मिटाता है, जीवन और जगत्‌के प्रति यथार्थ दृष्टिसे देखना सिखाता है, बशर्ते दु:ख और विपत्तियाँ अल्पकालके लिये ही होनेपर सकारात्मक चिन्तन प्रसूत करती हैं और यदि वह दीर्घकालतक विद्यमान रहें तो अवसाद, कुण्ठा और निराशा ही प्रदान करती हैं। हमें अपनी मानसिकता परिवर्तित करते हुए अपनेको सुख-दु:खके संकल्प-विकल्पसे अलग रखना चाहिये और याद रखना चाहिये कि सच्चा सुख, शाश्वत शान्ति तो सन्तोंके सत्संगसे ही मिल सकती है—

सुखिया ढूँढ़त मैं फिरा सुखिया मिला न कोय।
जाके आगे दुख कहूँ पहिले उट्ठै रोय॥
स्वर्ग मृत्यु पाताल में पूर तीन सुख नाहि।
सुख साहेब के भजन में अरु संतन के माहि॥

कोई वस्तु व्यर्थ मत फेंको

श्रीईश्वरचन्द्र विद्यासागरके यहाँ खुदीराम बोस नामके एक सज्जन पधारे। विद्यासागरने उन्हें नारंगियाँ दीं। खुदीरामजी नारंगियोंको छीलकर उसकी फाँकें चूस-चूसकर फेंकने लगे। यह देखकर विद्यासागर बोले—'देखो भाई! इन्हें फेंको मत, ये भी किसीके काम आ जायँगी।'

खुदीराम बोले—'इन्हें आप किसे देनेवाले हैं?'

विद्यासागरने हँसकर कहा—'आप इन्हें खिड़कीके बाहर रख दें और वहाँसे हट जायँ तो अभी पता लग जायगा।'

खिड़कीके बाहर उन चूसी हुई फाँकोंको रखनेपर कुछ कौए उन्हें लेने आ गये। अब विद्यासागरने कहा—'देखो, भाई! जबतक कोई पदार्थ किसी भी प्राणीके काममें आनेयोग्य है, तबतक उसे व्यर्थ नहीं फेंकना चाहिये। उसे इस प्रकार रखना चाहिये कि धूल-मिट्टी लगकर वह नष्ट न हो जाय और दूसरे प्राणी उसका उपयोग कर सकें।'

प्रभु श्रीरामके कतिपय श्रेष्ठ सेवक

[वाल्मीकीय रामायणके आलोकमें]

(डॉ० श्रीअजितकुमारसिंहजी)

प्रभु श्रीरामके सेवकोंमें भक्तशिरोमणि पवनपुत्र श्रीहनुमान्‌जीका अप्रतिम स्थान है। अपने स्वामीके प्रति निष्ठा, सम्पूर्ण समर्पण एवं भक्तिके क्षेत्रमें कोई अन्य इनके पासंगमें भी नहीं ठहरता है, फिर भी समय-समयपर सखाओं, मित्रों एवं भक्तजनोंने भी श्रीरामजीकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सेवा-सहायता की। यहाँ वाल्मीकीय रामायणके आलोकमें श्रीहनुमान्‌जीके अतिरिक्त मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके कतिपय अन्य श्रेष्ठ सेवकोंका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

निषादराज गुह

निषादराज गुहका वर्णन सर्वप्रथम वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डमें आता है। उसका वहाँ श्रीरामके सखाके रूपमें चित्रण है। राघवेन्द्र श्रीराम चौदह वर्षीय वनवासके लिये प्रस्थानके पश्चात् पहली बार अयोध्याराज्यकी सीमाके निकटवर्ती गंगातटपर बसनेवाले अपने मित्र और निषादोंके राजा गुहके राज्यकी सीमामें पहुँचते हैं और अपने सारथि (सुमन्त्र)-को अयोध्या वापस लौटाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजीके उदार मानवीय चरित्र एवं क्रान्तिकारी विचारोंकी झलक पहली बार उनके द्वारा तत्कालीन सामाजिक व्यवस्थासे बाहर हीन अथवा नीच या म्लेच्छ समझे जानेवाले निषादोंके राजाको अपनी आत्माके समान मित्र (आत्मसम:सखा)-के रूपमें मान्यता देनेके साथ मिलती है। उनके इस औदार्यसे अभिभूत गुह भी श्रीरामकी सेवा-सहायतामें कोई कोर-कसर नहीं उठा रखता। पुरुषसिंह श्रीरामके अपने राज्यमें पधारनेकी सूचनामात्रपर ही शारीरिक और सैनिक दृष्टिसे सशक्त निषादोंका राजा गुह अपने कुलवृद्धों, अमात्यों एवं परिजनोंके साथ भागा-भागा श्रीरघुनाथजीके पास आता है।

अपने प्राण-प्रिय सखा श्रीरामको वल्कल आदि धारण किये देखकर गुहको आत्मिक कष्ट हुआ। ज्येष्ठ राघवको हृदयसे लगाकर वह कह उठता है—'श्रीराम! आपके लिये जैसे अयोध्या है, वैसे ही निषाद-राज्यकी सम्पदा भी है। हे महाबाहु! बताइये मैं आपकी क्या सेवा करूँ? आप-जैसा प्रिय अतिथि किसको सुलभ होता है?' विविध प्रकारका अन्नादि लेकर श्रीरघुनाथजीकी सेवामें उपस्थित हो उनको अर्घ्य निवेदनके पश्चात् पुन: कहता है—'महाबाहो! आपका स्वागत है। यह सारी-की-सारी भूमि जो मेरे अधिकारमें है, वह आपकी ही है। हम आपके सेवक तथा आप हमारे स्वामी हैं। आजसे आप ही हमारे राज्यका शासन करें।

परमोदार श्रीराम अपने प्राणप्रिय मित्रके अपनेतक पैदल चलकर आने तथा स्नेह-प्रदर्शनमात्रसे सन्तुष्ट हो गये। वास्तविक और हार्दिक मैत्री आदान-प्रदानकी अपेक्षा नहीं करती है। उन्होंने गुहको अपनी भुजाओंके बन्धनमें कसते हुए कहा—

दिष्ट्या त्वां गुह पश्यामि ह्यरोगं सह बान्धवैः।
अपि ते कुशलं राष्ट्रे मित्रेषु च वनेषु च॥

(वा०रा० २।५०।४२)

गुह! यह सौभाग्यकी बात है कि मैं आज तुमको तुम्हारे बन्धु-बान्धवोंके साथ स्वस्थ एवं सानन्द देख रहा हूँ। बताओ, तुम्हारे राज्यमें, मित्रोंके यहाँ तथा वनोंमें सब जगह कुशल तो है?

मित्रवत्सल श्रीरामके सदाचरणके प्रति कृतज्ञ निषादराजने एक स्वामिभक्त सेवककी भाँति रामानुज श्रीलक्ष्मणके साथ रात्रि-जागरण किया। देवी सीता एवं स्वामीकी रक्षामें वह सजग प्रहरीका कर्तव्य निभाता है। यही नहीं, गहन वनोंमें अपने प्रभुका मार्गदर्शन करते हुए वह देवी मिथिलेशकुमारी-सहित राघव-बन्धुओंको प्रयाग-स्थित भरद्वाज-आश्रमतक पहुँचाता है।

प्रभु श्रीरामको लौटानेके दृढ़ निश्चयके साथ ससैन्य वन जा रहे भरतलालकी गतिविधियोंको संदिग्ध मान निषादराज अपना सब कुछ अपने स्वामीके रक्षार्थ न्यौछावर करनेको तत्पर हो जाता है। अपने सैनिकोंको सन्नद्ध करते हुए वह ललकार उठता है—

भर्ता चैव सखा चैव रामो दाशरथिर्मम।
तस्यार्थकामाः संनद्धा गङ्गानूपेऽत्र तिष्ठत॥

(वा०रा० २।८४।६)

दशरथकुमार श्रीराम मेरे स्वामी तथा सखा है, इस लिये उनके हितकी कामना रखकर तुम लोग अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो यहाँ गंगातटपर मौजूद रहो।

वह आगे कहता है कि उसके पास पाँच सौ नौकाएँ है, उनमेंसे एक-एकपर पाँच सौ सशस्त्र जवान पूरी तैयारीके साथ बैठें। यदि भरतका भाव प्रभु श्रीरामके अनुकूल होगा, तभी उनकी सेना कुशलतापूर्वक गंगाजीके पार जा सकेगी।

अपने भक्तों अथवा सेवकोंके प्रति कृपालु श्रीरामचन्द्रजी अपने भाई एवं परिजनोंके साथ-ही-साथ अपने पुराने मित्र गुहसे भी समान स्नेह एवं प्रेमके साथ मिलते हैं। यही नहीं, लंकाविजयके पश्चात् पुष्पकसे अयोध्या वापस लौटते समय भी वे अपने इस प्राणप्रिय मित्रको स्मरण करना नहीं भूलते हैं। अपनी अयोध्या वापसीकी सूचना श्रीभरतलालको भेजते समय वह पवनपुत्रसे कह उठते हैं—'हे कपिश्रेष्ठ! शृंगवेरपुर पहुँचकर निषादराज गुहसे भी मिलना और मेरी ओरसे कुशल-क्षेम कहना।'

इस प्रकार समाजसे बहिष्कृत, सर्वथा त्याज्य माने जानेवाले तथा कथित म्लेच्छजातिसे सम्बन्धित गुहके साथ हजारों वर्ष पूर्व प्रभु श्रीरामने वह आत्मिक सम्बन्ध स्थापित किया, जो वर्तमान समाजके लिये एक अनुकरणीय उदाहरण है।

गीधराज जटायु

पंचवटी एवं आसपासके वनाच्छादित क्षेत्रमें निवास करनेवाली गीध या गृध्र जातिके लोगोंका राजा जटायु परम बुद्धिमान्, शक्तिशाली एवं विशाल शरीरवाला था।

पंचवटी जाते समय दशरथनन्दन श्रीरामको सहसा मार्गमें एक भयंकर पराक्रमी तथा विशालकाय गृध्र मिला, जिसको प्रथम दृष्टिमें राघव बन्धुओंने राक्षस समझा। प्रभु श्रीरामद्वारा परिचय पूछे जानेपर अत्यन्त मधुर स्वरमें उसने उत्तर दिया था—

ततो मधुरया वाचा सौम्यया प्रीणायन्निव।
उवाच वत्स मां विद्धि वयस्यं पितुरात्मनः॥

(वा०रा० ३।१४।३)

वत्स! मुझको अपने पिताका मित्र समझो।

श्रीरघुनन्दनजीने उसको (जटायुको) अपने पिताका मित्र जान उसकी अभ्यर्थना की तथा उससे गीधका कुल एवं नाम पूछा। स्वयंको विनतानन्दन गरुड़के सगे छोटे भाई अरुणका छोटा पुत्र जटायु बताते हुए गीधराजने सम्पातिको अपना बड़ा भाई बताया। देवासुर-संग्राममें देवताओंके पक्षमें असुरोंके विरुद्ध संघर्षरत अयोध्यानरेश दशरथके साथ मैत्रीका वर्णन करते हुए पक्षिराजने श्रीरामसे राक्षसों तथा हिंसक पशुओंसे भरे पंचवटीमें पर्णशालासे दोनों भाइयोंकी अनुपस्थितिमें देवी सीताकी रक्षाका प्रस्ताव किया—

सोऽहं वाससहायस्ते भविष्यामि यदीच्छसि।
इदं दुर्गं हि कान्तारं मृगराक्षससेवितम्।
सीतां च तात रक्षिष्ये त्वयि याते सलक्ष्मणे॥

(वा० रा० ३।१४।३४)

जटायुने अपने वचन और पुत्रवधूसदृश सीताकी रक्षामें अपने प्राण दे दिये, रावणसे युद्धमें उसने अद्भुत पराक्रमका प्रदर्शन किया।

कृतज्ञताकी भावनासे ओत-प्रोत प्रभु श्रीराम गृध्रराज जटायुको अपने पिताके समान सम्माननीय मानते हुए न केवल उसका विधिवत् दाह-संस्कार करते हैं, वरन् शास्त्रीय विधि-विधानसे गोदावरीकी पवित्र धारामें स्नानकर उसको जलांजलि प्रदान करते हैं। ऐसा पुण्य तो दुर्भाग्यवश महाराजा दशरथको भी नहीं प्राप्त हो सका था।

जटायु ज्योतिषशास्त्रका प्रकाण्ड विद्वान् था। मरते-मरते भी वह श्रीरामको अपने ज्योतिषीय पाण्डित्यका परिचय दे ही जाता है। श्रीरामचन्द्रको सान्त्वना देते हुए वह कहता है—

येन याति मुहूर्तेन सीतामादाय रावणः।
विप्रणष्टं धनं क्षिप्रं तत्स्वामी प्रतिपद्यते॥
विन्दो नाम मुहूर्तोऽसौ न च काकुत्स्थ सोऽबुधत्।
त्वत्प्रियां जानकीं हृत्वा रावणो राक्षसेश्वरः।
झषवद् बडिशं गृह्य क्षिप्रमेव विनश्यति॥

(वा०रा० ३। ६८। १२-१३)

रावण देवी सीताको जिस मुहूर्तमें ले गया है, उसमें खोया हुआ धन शीघ्र उसके स्वामीको (वापस) मिल जाता है। काकुस्थ! वह 'विन्द' नामक मुहूर्त था, किंतु उस राक्षसको इसका पता नहीं था। जिस प्रकार मछली मरनेके लिये ही बंशीको पकड़ लेती है, उसी प्रकार राक्षसेश्वर रावण भी जानकी (सीता)-को ले जाकर शीघ्र ही नष्ट हो जायगा।

इस प्रकार जिस महाआततायी रावणका प्रत्यक्ष विरोधकर श्रीरामकी प्रत्यक्ष सहायताका साहस देव, यक्ष, गन्धर्व, दैत्य एवं असुर भी नहीं कर सके थे, उसी रावणसे प्रत्यक्ष संघर्षमें अपने प्राणोंकी बलि दे रघुनाथजीके इस सेवकने यह सिद्ध कर दिया कि सेवा, भक्ति, पराक्रम, कर्तव्य, शिक्षा एवं त्यागपर किसी वंश या जातिका एकाधिकार नहीं हो सकता है।

वानरराज सुग्रीव

वाल्मीकीय रामायणमें सुग्रीवको वानरराज ऋक्षरजस्का पुत्र कहा गया है, जो वालीका छोटा भाई था। वालीको देवेन्द्र तथा सुग्रीवको सूर्यपुत्र भी कहा गया है **'सूर्यपुत्रं च सुग्रीवं शक्रपुत्रं च वालिनम्।'** (वा०रा० १। १७। ३२)

शबरीके स्वर्गगमनके पश्चात् पम्पा सरोवरमें स्नान, तर्पण आदिके पश्चात् श्रीराम अपने अनुजसे कहते हैं—

ऋष्यमूको गिरिर्यत्र नातिदूरे प्रकाशते।
यस्मिन् वसति धर्मात्मा सुग्रीवोंऽशुमतः सुतः॥

(वा०रा० ३। ७५। ७)

अर्थात् शोभायमान ऋष्यमूक पर्वत यहाँसे थोड़ी दूरपर है, जिसपर सूर्यपुत्र धर्मात्मा सुग्रीव निवास करते हैं।

सुग्रीवके प्रमुख अमात्य एवं दूत पवनपुत्र श्रीहनुमत् श्रीराम तथा लक्ष्मणको बताते हुए कहते हैं कि धर्मात्मा सुग्रीव आप दोनोंसे मित्रताकी इच्छा रखते हैं।

प्रभु श्रीराम अग्निको साक्षी मानकर सुग्रीवसे मित्रताकी शपथ लेते हैं तथा वालीका वधकर उसे किष्किन्धाका राज्य प्रदान करते हैं।

किष्किन्धा-राज्यकी प्राप्तिके पश्चात् अपनी व्यक्तिगत दुर्बलताके कारण देवी सीताके अनुसन्धानमें की गयी अपनी पहली तथा अन्तिम भूलको सुधारते हुए वानरराज सुग्रीवने भी यह सिद्ध कर दिया कि अपने मित्रके हितके लिये अपना सब कुछ न्यौछावर कर देनेके प्रति वे हृदयसे तत्पर हैं।

प्रभु श्रीरामके प्रति अपनी अटूट सेवाभावना और सुदृढ़ राजनिष्ठाका परिचय देते हुए सुग्रीव राक्षसराज रावणके बिना लड़े समुद्रतटसे वापस लौट जानेके प्रस्तावको अस्वीकार करते हुए स्पष्ट शब्दोंमें घोषणा करते हैं कि शुक! तुम रावणको मेरा सन्देश कहना—वधके योग्य दशानन! तुम न तो मेरे मित्र हो, न दयाके पात्र हो, न मेरे उपकारी हो और न ही मेरे प्रिय व्यक्तियोंमेंसे ही कोई हो। तुम श्रीरामके शत्रु हो, इसलिये तुम वालीकी भाँति अपने सगे-सम्बन्धियोंसहित मेरे लिये वध्य हो।

न मेऽसि मित्रं न तथानुकम्प्यो न चोपकर्तासि न मे प्रियोऽसि।
अरिश्च रामस्य सहानुबन्धस्ततोऽसि वालीव वधार्ह वध्यः॥

(वा०रा० ६। २०। २३)

वानर-सम्राट् होते हुए भी इन्होंने न केवल एकाकी दशानन, कुम्भकर्ण एवं इन्द्रजित्-जैसे दुर्दान्त योद्धाओंसे भिड़नेमें किसी प्रकारका संकोच किया, वरन् प्रहास, कुम्भ, विरूपाक्ष महोदर-जैसे दुर्द्धर्ष राक्षस-सेनानियोंका

वधकर अपने योद्धाओंके लिये प्रत्यक्ष उदाहरण भी प्रस्तुत किया।

सेवककी अपने स्वामीके प्रति सम्पूर्ण समर्पणकी भावना किसी भी उदार एवं धर्मप्राण स्वामीको उसके स्वामिभावको तिरोहित करनेमें सहायता प्रदान करती है। अयोध्यामें अस्थायी निवासहेतु श्रीरघुवर सुग्रीवको न केवल अपना व्यक्तिगत आवास सौपते हैं वरन् महादेवी सीताकी सकुशल वापसी तथा रावणके वध एवं लंकाविजयका सम्पूर्ण श्रेय अपने 'परम सखा' कपीश्वर सुग्रीवको देते हैं।

भक्तिमती शबरी

शबर नामक म्लेच्छ जातिविशेषके लोगोंको पुराणोंमें **'दक्षिणापथवासिनः'** बताते हुए इनकी गणना वनवासी आभीरों, आटव्यों, पुलिन्दों आदिके साथ की गयी है। ब्राह्मणसाहित्यके अनुसार ऋषि विश्वामित्रके ज्येष्ठ पचास पुत्र उन्हींके शापके कारण म्लेच्छ बन गये थे। उन्हीं आन्ध्र, पुण्ड्र, पुलिन्द, मूतिव आदिके साथ शबर भी बताये गये हैं। महाभारत भी शबरोंको हीन आचरणके कारण क्षत्रियत्वसे च्युत होकर म्लेच्छ होना बताता है।

पम्पासरोवरके पश्चिमी तटपर आश्रम स्थापित करनेवाले सिद्ध ऋषि मतंगकी शिष्या और सेविका शबरी गुरुभक्ति, सेवाभावना एवं तपस्याकी साक्षात् प्रतिमा थी। इसके ब्रह्मज्ञानी तथा परम तपस्वी गुरुने अपने अनुज श्रीलक्ष्मणसहित प्रभु श्रीरामके मतंगाश्रम आनेका पूर्वदर्शन कर लिया था। अपनी मुक्तिकी प्रतीक्षामें ही यह श्रीराघव बन्धुओंकी प्रतीक्षा कर रही थी।

दोनों भाइयोंको आश्रमपर आया देख वह सिद्ध तपस्विनी हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी तथा उसने श्रीसम्पन्न दोनोंके चरणोंको पकड़कर प्रणाम किया—

तौ दृष्ट्वा तु तदा सिद्धा समुत्थाय कृताञ्जलिः।
पादौ जग्राह रामस्य लक्ष्मणस्य च धीमतः॥

(वा०रा० ३।७४।६)

उस सिद्धा तापसीने दोनों भाइयोंके लिये पम्पासरोवरके तटसे नाना प्रकारके जंगली फलों तथा मूलोंका संचय किया था **'मया तु संचितं वन्यं विविधं पुरुषर्षभ।'** कर्मको जन्मसे श्रेष्ठ माननेवाले प्रभु श्रीरामने अनुजसहित उसका आतिथ्य स्वीकार किया।

शत्रुदमन देवेश्वर प्रभु श्रीरामके दर्शनमात्रसे ही अपनी तपस्याको पूर्ण माननेवाली उपकृता जटिला (यह शबरीका नाम भी हो सकता है अथवा जटाधारण करनेके कारण उसका विशेषण) शबरीने दोनों भाइयोंको मतंगवन स्थित महर्षि मतंग एवं अन्य गुरुजनोंका निवासस्थल, उपासनास्थल एवं यज्ञस्थल दिखलाया। तत्पश्चात् वह अग्निस्नानकर दिव्यलोकको प्रस्थान करती है।

'सेवा' शब्दको किसी निश्चित परिभाषा या सीमामें नहीं बाँधा जा सकता है। सेवाके लिये सेवकके दास, भक्त, अनुचर, सखा, पिता, माता, भाई-बन्धु, आचार्य, शिक्षक, चिकित्सक आदि किसी भी विशिष्ट 'रूप' या दायित्वका निर्धारण नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः किसी भी व्यक्ति अथवा प्राणीको अपने किसी आचरण-विशेषसे सुख उपलब्ध कराना सेवा ही है। तीनों लोकोंको संतप्त करनेवाले राक्षसेन्द्र रावण तथा उसके कुकृत्योंका विनाशकर लंकामें मानवीय मूल्योंकी स्थापना करनेवाले प्रभु श्रीरामने पशु-पक्षीके रूपमें मान्यताप्राप्त वानर-भालुओं, गीधों, सुपर्णोंको मैत्रीके अटूट बन्धनमें बाँध, उनकी सामाजिक कुरीतियों और पिछड़ेपनको दूर करनेवाले विविध उपायोंका मार्ग प्रशस्तकर तत्कालीन मानवसमाजकी अकल्पनीय सेवा की थी। **'सर्वे भवन्तु सुखिनः'** को मान्यता देनेमें उनके ये सेवक भी पीछे नहीं रहे।

श्रीरामकथाका एक पावन-प्रसंग—

धरतीकी लाड़िलीका लाड़ला

(आचार्य श्रीरामरंगजी)

'मारुति! इस तुम्हारे अंगदको क्या कहें?'

'क्यों, इस हमारे अंगदने ऐसा क्या कर दिया, जिसे कहनेमें कपिराज सुग्रीवको संकोच हो रहा है?'

'आप नहीं जानते?'

'जानता, तो क्या इस प्रकार प्रश्न करता?'

'अरे आंजनेय, ये बालिकुमार जिस प्रकार दशाननकी रक्ष-सभामें जनकनन्दिनीको ही एक प्रकारसे दाँवपर लगाकर, जुआरीकी भाँति चरण-रोपणकर खड़े हो गये, उसे आप उचित मानते हैं क्या? जिस सभामें देवराज इन्द्रको उनके ही गजराज ऐरावतकी शृंखलासे जकड़कर लंकाकी गली-गलीमें घसीटनेवाले, जहाँ शनिदेवको बन्दी बनानेवाले, यक्षराज कुबेरके सेनापति मणिभद्रका मानमर्दन करनेवाले, लोकपालोंके भवनोंके कपाट उखाड़कर लंकाको सजानेवाले, यमदण्डका मुख फेरनेवाले एकसे बढ़कर एक निशाचर सुभट बैठे हुए थे, वहाँ इस प्रकार बोलकर डट जाना… क्या कहें?'

मारुतिको इर्ष्यालु सुग्रीवके शब्दोंके उत्तरमें बहुत कुछ कहनेको उत्सुक देखकर, ऋक्षराज बात बिगड़नेके भयसे उन्हें मौन रहनेका विनम्र संकेत करते हुए बोले, 'वानरराज! इस किशोरके चरण-रोपणसे कुछ अनुचित तो नहीं हुआ न?'

'हुआ तो महादेवकी कृपासे नहीं, किंतु यदि हो जाता तो?'

'तो प्रलय आ जाती। ब्रह्माण्ड खण्ड-खण्ड हो जाता। समुद्रोंकी सीमाएँ टूट जातीं। हिमालयपर हिमालयकी ऊँचाई जितना जल हिलोरें लेने लगता।' उत्तेजित मारुतिको पुनः रोकते हुए ऋक्षराज बोले, 'कपीश्वर! मारुतिके शब्दोंको अतिशयोक्तिपूर्ण अथवा अन्यथा अर्थोंमें न लें। इनकी वाणीसे परम सत्य उद्घाटित हो रहा है।'

'मैं आप दोनों ही महानुभावोंका अत्यन्त आदर करता हूँ, किंतु आपने मेरी प्रत्येक बातपर शंका करनेकी जैसे परम्परा ही बना ली है।'

'धन्य हो कपिराज! धन्य हो। जिस परम्पराको आप हमारे द्वारा निर्मित कह रहे हैं, उसके निर्माता तो आप हैं।'

'हम?'

'हाँ, आप-आप-आप और केवल आप।'

'यदि उचित मानें तो उसे स्पष्ट भी कर दें।'

'स्पष्ट क्या, आज जबकि महासंग्रामका समारम्भ होनेवाला है, उन क्षणोंमें केवल कुछ शब्दोंमें नहीं, पूर्णतः व्याख्या कर देनी आवश्यक है; क्योंकि इस सत्रमें कई अवसर ऐसे आयेंगे जिनमें आपका चित्त यदि विचलित हो गया तो समस्या आ जायगी। कहो, कहाँसे यह वृद्ध ऋक्ष आपकी शंकालु प्रकृतिकी कथाका श्रीगणेश करे?'

'हम जानते हैं। बहुत समयसे आप हमारे विषयमें बहुत कुछ मनमें पाले बैठे हैं। इधर-उधर संकेतोंमें बहुत कुछ कह जाते हैं। हम जानकर भी अनजान बने रहनेका स्वाँग रचाते रह जाते हैं। हम बैठे हैं, हमारी आलोचना, हमारे मुखपर कीजिये। हमें अपना समर्पित-प्रतिबन्धित श्रोता मानकर जो कहना हो, कहिये।'

'आपके ये शब्द, आपके हृदयका कौन-सा संचित भाव प्रकट कर रहे हैं, उसका नाम तो हम नहीं लेंगे, किंतु उसीके अधीन आपने आलोचना शब्दका प्रयोग किया है। किष्किन्धापति! सुनो, आलोचना शत्रुकी की जाती है। समालोचना मित्रकी की जाती है। उसकी सुरक्षाके लिये, कीर्तिकी प्रतिष्ठाके लिये की जाती है। हम आपके मित्र हैं, बन्धु हैं, सहायक हैं, आपकी विशाल वाहिनीके एक सामान्यसे सैनिक हैं। सुयोग्य सेनापति वही होता है, जो अपने एक साधारण सैनिककी बातका भी युक्तियुक्त आकलनकर उसे महत्त्व देता है; क्योंकि बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं, जो सिंहासनासीन नहीं जानता, किंतु निम्न स्तरपर कार्यरत एक सामान्य-सा सेवक जान लेता है। उसके महत्त्वको नकारनेवाला अधिपति उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार एक साधारण-सा विषैला काँटा, शरीरके अनन्त रोमोंमेंसे एक रोममें

प्रवेशकर, उसके अन्तका निदानहीन कारण बन जाता है।'

'हम समझ गये। अब इस भूमिका-निर्माणको विराम देकर, विषयपर आइये।'

'सुनिये और आरम्भसे सुनिये। मारुति प्रभुको अनुजसहित ऋष्यमूकपर लेकर आये। आप हमसे बोले, 'मारुति छले गये।' हम कुछ कहते कि आप उससे पूर्व ही पलायनकर कहीं जाकर छिप गये। कितनी बार पुकारनेपर, आप डरते-काँपते इस प्रकार हमारे पीछे आकर खड़े हो गये, जैसे राघव अभी आपपर बाण-संधान करनेवाले हों। वह हमें लगे और आप प्राण लेकर निकल जायँ। आपको आश्वस्त करनेके लिये प्रभुने कितनी बार कहा कि 'मैं बालिका वधकर, तुम्हारा हित साधन करूँगा।' तुमने अग्निकी साक्षीमें मित्र बनकर भी पूर्णतः विश्वास नहीं किया? प्रभुको दुन्दुभिकी अस्थियोंपर उगे हुए ताल दिखा दिये। प्रभुने उन्हें भी बींध दिया। तब उनके नीचे दबा हुआ, उसका विशाल कंकाल दिखाया। वह भी उन्होंने एक ठोकरसे कहाँ फेंका, आजतक कोई नहीं जानता। तदनन्तर प्रभुको कितनी-कितनी बातें बार-बार स्मरण कराते हुए, उन वानरराज बालिको महालयसे निकालनेके लिये निकले। हमने देखा, प्रभु बाण-संधान किये खड़े थे, परंतु तुम दोनों बन्धुओंकी एक-सी आकृति, वेशभूषा देखकर उन्होंने बाण नहीं चलाया कि कहीं अमंगल न हो जाय। मित्र-हत्याका कलंक न लग जाय। आप लहूलुहान होकर लौटे। लौटकर आपने प्रभुपर कौन-से आरोप क्या, अपितु गम्भीर लाँछन नहीं लगाये। 'आप बली हो, बालि महान् बलशाली है, आपने मेरा अन्त करानेके लिये ही उससे संघर्ष करने भेजा। यदि आपमें उसका अन्त करनेका साहस नहीं था अथवा अन्त करना नहीं चाहते थे, तो मुझे भेजनेकी क्या आवश्यकता थी?' केवल स्पष्ट शब्दोंमें मित्रद्रोही नहीं कहा अन्यथा भाव यही था। प्रभुका अपमान होते देखकर सौमित्रिका आक्रोश उभर रहा था। हम भयभीत थे। प्रभुने फिर समझाकर, एक माला पहनाकर, तुम्हें भेजा, परिणाम सामने आया। तुम्हारी शंकाका समाधान तब कहीं जाकर हुआ।

'ऋक्षराज! आप सत्य कह रहे हैं, किंतु एक बात विचारिये कि वर्षोंसे हम जिस प्रकार मर-मरकर जी रहे थे, उस स्थितिमें कोई अन्य होता तो उसकी स्थिति क्या ऐसी ही नहीं होती? आप उसके प्रत्यक्षदर्शी होकर भी, हमपर आरोप लगा रहे हैं।'

'आपपर आरोप नहीं लगा रहे, आपकी प्रकृतिकी समीक्षा कर रहे हैं। आपसे कठिन परिस्थिति तो उस समय प्रभुकी थी। आपको तो मतंग मुनिके शापके कारण, बालिके भयसे विरहित ऋष्यमूकका पर्याप्त फल-फूलोंसे परिपूर्ण अभेद्य दुर्ग तो प्राप्त था। हम-जैसे कई-कई मित्र आपके साथ थे। प्रभुके पास एक सौमित्रि, स्कन्धोंपर तूणीर और हाथोंमें धनुष ही तो था, किंतु उनमें आत्मविश्वास था।'

'हममें नहीं था, यही कहना चाह रहे हैं न, उसका उत्तर हम दे चुके।'

'तो उसका उत्तर भी दीजिये कि जब प्रभु वर्षाकाल प्रस्रवण गिरिपर व्यतीत कर रहे थे, तब आप मित्रधर्मका निर्वाह करनेके लिये कितनी बार उनसे मिलने गये? उस समय किष्किन्धाके महालयोंमें आप कौन-से भोगोंका उपभोग नहीं कर रहे थे? उनका स्मरण क्या कराना। समुद्रतटपर आकर आप जो नहीं बोले, वह आपके हाव-भाव मुखमुद्रा बोलती हमने देखी। विभीषण रावणका परित्यागकर आये। आपने उनपर कौन-से आरोप नहीं लगाये, यह जानते हुए भी कि ये पवनकुमारसे प्रेरित होकर ही आये हैं। 'ये शत्रुके द्वारा भेद लेनेके लिये भेजे गये हैं। रात्रिमें हमारी सुप्तावस्थामें हत्या करना ही इनके आगमनका उद्देश्य है। इन्हें बन्दी बना लो।' क्या-क्या नहीं कहा। यह परम बुद्धिमान्-बलवान् हनुमान्पर अविश्वास था कि नहीं? बार-बार तुम्हारा अटपटा व्यवहार देखकर भी, प्रभु तुम्हें हँसकर 'सखा-सखा' ही कहते रहते हैं। इसपर कभी विचार नहीं किया?

'अस्तु, अब आजके प्रसंगपर चर्चा करते हैं। युवराज अंगदको दूतरूपमें भेजनेका परामर्श हमने ही तो दिया था। प्रभुने तुम्हारा समर्थन न देखकर भी सहर्ष स्वीकार किया। अब उसके पूर्णतः सफल ही नहीं, जिसका कभी किसीने विचार भी नहीं किया, उस

कार्यको प्रतिष्ठापूर्वक सम्पन्नकर, बल्कि एक प्रकारसे केवल राघवेन्द्र रामचन्द्र ही नहीं, वानरोंकी प्रबलताकी मुद्रा लंकाके एक-एक राक्षसके वक्षपर अंकित करके लौटे। मारुतिद्वारा लंक-दहनको 'धोखेसे आग लग गयी' कहकर एक प्रकारसे जो उनके पराक्रमको नकार रहे थे, चरणरोपणकर युवराजने उस पाखण्डपूर्ण नकारको अपने प्रचण्ड पराक्रमके बलसे प्रामाणिकतापूर्वक नकार दिया। मदमत्त गयन्दोंके व्यूहका अहं पददलितकर, मृगराजके किसी किशोरकी भाँति निकल आये। विस्मृत करा आये, तुम्हारी उस पराजयको जो तुमने लंकाके शिखरागारपर बिना विचारे छलाँग लगाकर प्राप्त की थी।

'वानरराज! आप युवराज अंगदकी ओरसे जो शंका मनमें पाले बैठे हो, उसे चित्तसे निकाल दो। तुम्हारे जीवनकालमें अंगद वयोवृद्ध अवस्था भी प्राप्त कर लें तो भी किष्किन्धाका सिंहासन मेरे पिता वानरराज बालिका, यह जानते हुए भी तुम्हें अपदस्थ करनेका विचार मनमें लानेवाले नहीं हैं। अंगद पूर्णत: श्रीराम-भक्त है। वह राज्यश्रीमें कदापि आसक्त नहीं हो सकता। हमारा विश्वास करो। यह बालिका बालक, अपने पिताद्वारा बाँह सौंपनेके कारण अब मर्यादापुरुषोत्तमका बालक बन चुका है। इतनेमें ही अनकहीको श्रीरामकी कही हुई मान लो।'

'ऋक्षराज! आज आपको हो क्या गया है, मैं यह समझ ही नहीं पा रहा हूँ। मैं केवल इतना ही कह रहा था कि क्या अंगदद्वारा महारानी जनकनन्दिनीके मुक्ति प्रसंगको दाँवपर लगाना उचित था?'

'तो समुद्रपर सेतु निर्माणकर प्रभुके साथ हमारे कटकका बिना किसी विघ्न-बाधाके लंका आ जानेपर भी आपको महारानीकी मुक्तिके विषयमें कोई सन्देह है?'

'किंचित् क्या, अणुमात्र भी नहीं, परंतु यदि कोई बलवान् निशाचर उठकर, उस किशोरका पैर हिला देता तो?'

सुग्रीवके यह कहते ही जो हनुमान् अबतक शान्त बैठे थे, वे तुरंत उठकर इस प्रकार खड़े हो गये, जैसे किसी वृश्चिक (बिच्छू)-ने ही उनपर तीव्र दंशाघात कर दिया हो। वे आकाशकी ओर क्षणभर देखकर, धरतीपर नेत्र गड़ाकर रहस्यपरसे परदा-सा उठाते हुए बोले, 'वानरराज! अंगदका चरण नहीं हिल सकता था। उसे जनकनन्दिनीकी जननी भगवती वसुन्धरा स्वयं सम्हाले बैठी थीं। वे सिद्ध करना चाह रही थीं कि सांसारिक दृष्टिसे जिसका राघव-रमणीसे रक्त-सम्बन्ध क्या, कोई भी सम्बन्ध न हो, जिसने उनका प्रत्यक्ष दर्शन भी नहीं किया हो, वह भी यदि विश्वासपूर्वक उनके नामपर कोई प्रतिज्ञा करके संकल्पपूर्वक खड़ा हो जाय तो वे उसकी रक्षा उसी भाँति करती हैं, जैसे एक कपि-किशोर अंगदकी की।

'अतिकाय-अकम्पन-प्रहस्त-मकराक्ष-विरूपाक्ष आदिके बलकी चर्चा जो विभीषणजीने शिविरमें की, उससे आप परिचित हैं। उनकी गति चरणने क्या की, अपितु देवराजको बन्दी बनानेके कारण जिसकी ख्याति आकाशका स्पर्श कर रही थी, वह पातालमें प्रवेशकर कहाँ गयी, यह उसकी फटी हुई आँखोंकी ठहरी हुई पुतलियाँ, उसके दाँतोंमें दबकर रक्त चुचुआते अधर, अंग-अंगसे प्रवाहित होती हुई स्वेद-धाराएँ खोजती रह गयीं। बलके साथ बुद्धिका मणि-कांचन-जैसा संयोग तो उसने तब सिद्ध कर दिया, जब दशकन्धरद्वारा अपने चरण-स्पर्शसे पूर्व अपना चरण यह कहकर हटा लिया कि 'इस बालकके नहीं, इसके प्रभु श्रीरामके चरणोंका आश्रय ले।' दूरदर्शितापूर्ण दूसरी व्याख्यापर भी ध्यान दीजिये। रावण चरण तो हिला ही नहीं पाता, साथ ही ऐसी स्थितिमें प्रभु-सौमित्रिसहित हम सबको समरक्षेत्रमें राक्षस-विध्वंसके कारण जो ख्याति प्राप्त होनेवाली है, वह भी मूल्यहीन होकर रह जाती। संसार यही तो कहता कि 'जिसके एक कपि-बालकका चरण समस्त रक्ष-सुभटोंसहित स्वयं त्रैलोक्यविजयी दशकन्धर नहीं हिला पाया, उसपर तुम सबने मिलकर विजय प्राप्त कर ली तो कौन-सा चमत्कार कर दिखाया?'

'यह तो हमने विचारा ही नहीं था।'

'नहीं विचारा था तो अब यह भी विचार लो कि महारानीको लौटाना न मानकर, रावणने संग्रामकी घोषणा

कर डाली है। वह किसी भी क्षण आरम्भ होनेवाला है। रक्ष-सुभट सेनासहित समरक्षेत्रमें प्रवेश करेंगे, किंतु मनोबलहीन-अवस्थामें, भयाक्रान्त स्थितिमें, बाध्य होकर केवल आत्महत्याका भाव लेकर ही जूझेंगे। अपना प्रारब्ध मानकर अपने अन्तका वरण करेंगे।'

'इसके अतिरिक्त इस प्रबुद्ध युवकने बिना एक शब्द बोले शत्रु और मित्र दोनों ही पक्षोंको व्यर्थकी नाना शंका-आशंकाओंसे भी मुक्त कर डाला है।'

'दोनों पक्षोंकी शंका-आशंका क्या?'

'यही कि जिसके पिता वानरराज बालिका श्रीरामने वध कर डाला, वह संग्रामके मध्य पक्ष-परिवर्तनकर, कहीं शत्रुसे जाकर तो नहीं मिल जायगा? रावणने उसे भरी सभामें अनेक प्रलोभन दिये। उसका उत्तर चरण जमाकर, उसके मुकुट उछालकर दिया तो यहाँ आकर गिरते हुए उन्हीं मुकुटोंने यहाँके असमंजसग्रस्त मनोंके मौन प्रश्नोंको, मौन त्यागकर मुखर उत्तर भी दे डाला कि अंगद अपने पिताद्वारा प्रभु श्रीरामको प्रदत्तके रूपमें दत्तक नहीं, उनका औरस पुत्र ही बन गया है। जानकीकी माता भगवती धरित्रीने उसपर अपनी मुद्रा लगाकर, उसे परम विश्वस्तोंकी अग्रपंक्तिमें सुस्थिर कर दिया है।'

'पवनपुत्र! इतनी देरसे हम जिसकी चर्चा कर रहे हैं, उस चर्चाका चरित्रनायक कहाँ है?'

'वह प्रभुकी चरण-सेवामें संलग्न है। उसे उसके स्वयं स्वीकृत कृत्यसे विरत करना…।'

'विरत क्यों करना, हमें वहीं चलना चाहिये।'

वानरराज सुग्रीवके साथ ऋक्षराज जाम्बवन्त और मारुति प्रभु श्रीरामके शिविरकी ओर चल पड़े। अनेक प्रमुख वानरवीरोंके घेरेमें घिरे हुए अंगदके कण्ठमें सौमित्रिद्वारा गुंफित, श्रीरामद्वारा सज्जित पुष्पमालाको देखते ही सुग्रीवने उसे अपने हृदयसे लगाते हुए, अपनी कलगी वीरवर अंगदके मस्तकपर सुशोभित कर दी। समस्त कीश-कटक युवराज अंगदका जय-जयकार कर उठा।

साधक अभिमान न करे

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज)

जब कभी भक्तके मनमें किसी प्रकारके अभिमानकी छाया आ जाती है, तब उसका नाश करनेके लिये भगवान् उसके सामनेसे छिप जाया करते हैं। रासक्रीड़ा करते समय जब गोपियोंके मनमें यह बात आयी कि 'अब तो श्यामसुन्दर हमारे अधीन हो गये, हम जैसा कहती हैं, ये वैसा ही करते हैं।' बस, यह मनमें आते ही उनके सामनेसे भगवान् अन्तर्धान हो गये। जिसके मनमें अभिमान नहीं आया था, उसको अपने साथ ले गये। आगे चलकर जब उसके मनमें अभिमान आया, वह कहने लगी कि 'मुझसे अब चला नहीं जाता। मुझे कन्धेपर उठा लीजिये।' तब उसको भी वहीं छोड़कर अन्तर्धान हो गये। पीछेसे जब श्यामसुन्दरको खोजनेवाली अन्य गोपियाँ उससे मिलीं और वहाँ भी श्यामसुन्दर नहीं मिले, तब वे सब श्यामसुन्दरके विरहसे व्याकुल होकर उनको वनमें सब ओर खोजने लगीं। लता-पत्ता, पशु-पक्षी आदि हरेक प्राणीसे पूछने लगीं कि 'तुमने श्यामसुन्दरको देखा होगा। वे किधर गये?' इतनेपर भी जब श्यामसुन्दर नहीं मिले, तब जहाँसे लीला आरम्भ हुई थी, वहीं आकर विरह-व्याकुलतासे उनमें तन्मय हो गयीं और उन्हींकी लीलाका अभिनय करने लगीं। जब उस व्याकुलताके दुःखसे उनका अभिमान गल गया, तब श्यामसुन्दर वहीं प्रकट हो गये। वे जब अन्तर्धान हो गये, तब भी वहीं थे। कहीं गये नहीं थे, पर गोपियाँ उनको जान नहीं पायीं। प्रकट होनेपर जब गोपियाँ उन्हें उलाहना देने लगीं, तब उन्होंने यही कहा कि 'मेरी प्यारी सखियो! मैं तो सदैव तुम्हारे ही पास था। कहीं दूर नहीं गया था। मैं तो तुम्हारे प्रेमरसकी वृद्धिके लिये ही छिपा था इत्यादि।' अतः साधकको कभी किसी प्रकारका भी अभिमान नहीं करना चाहिये।

कहानी—

पिताका कर्ज

(श्रीरामेश्वरजी टांटिया)

राजस्थानमें चूरू एक पुराना कस्बा है। आजसे सवा सौ-डेढ़ सौ वर्ष पहले यहाँ एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार रहता था, जिसका मालवामें बड़े पैमानेपर व्यापार था। जब अफीमको लेकर ब्रिटेन और चीनका युद्ध हुआ तो इनको घाटा लग गया, काम बन्द हो गया और देनदारी रह गयी।

इसके बाद परिवारके स्वामी सेठ उजागरमलको घरके बाहर निकलते कभी नहीं देखा गया। कभी-कदाच कोई आदमी उनसे मिलने भी गया तो उनका चेहरा नहीं देख पाया; क्योंकि वे अपना मुँह चद्दरसे ढके रहते थे। इसी शोकसे छोटी उम्रमें ही उनका देहान्त हो गया। परिवारमें उनकी विधवा पत्नी और तेरह वर्षका पुत्र रामदयाल रह गये।

गहने और जमीन-जायदाद बेचकर उजागरमलने अपना बहुत-सा कर्ज तो चुका दिया था, फिर भी मरते समय कुछ बाकी रह गया था। अन्तिम समयमें उन्होंने पत्नी और पुत्र रामदयालको एक कागज दिया, जिसपर कर्ज देनेवालोंके नाम और रकमें लिखी थीं। पुत्रको उनका अन्तिम आदेश था कि उनकी आत्माको तभी शान्ति मिलेगी, जब किसी दिन वह यह सारा कर्ज ब्याज समेत चुका देगा।

दो वर्ष बाद रामदयालका विवाह हुआ। इस मौकेपर विधवा माँने थोड़ा-बहुत कर्ज लेकर पूरी बिरादरीको न्यौता दिया। बहूकी अगवानीके समय किसीने ताना कस दिया कि बापका कर्ज तो चुका ही नहीं और विवाहमें इतनी धूमधाम है! किशोर रामदयालको यह बात चुभ गयी और विवाहके कंगन-डोरे खुल भी नहीं पाये थे कि उसने सुदूरपूर्व असम जानेका निश्चय कर लिया। माँ और पड़ोसियोंने रामदयालको बहुत समझाया कि कुछ दिन ठहर जाओ और थोड़े बड़े हो जानेपर चले जाना, पर उसने किसीकी भी न सुनी और रोती-बिलखती माँ और बालिका बहूको छोड़कर, कुछ लोगोंके साथ, जो पूरबकी यात्रापर जा रहे थे, वह भी चल पड़ा।

उस समय असमकी यात्रामें तीन-चार महीने लग जाते थे। रेललाइन कलकत्तेसे कानपुरतक ही बनी थी। राजस्थानसे कानपुर जानेमें २५-३० दिन लगते थे। कलकत्तासे नौकामें बैठकर असम जानेमें भी डेढ़-दो महीने लग जाते थे। रास्तेमें पद्मानदी पड़ती थी, जिसके तेज बहावमें कभी-कभी नौकाएँ डूब जाती थीं। इसके सिवाय जल-दस्युओंका भी डर बना रहता था, इसलिये कई आदमी एक साथ मिलकर और पूरा बन्दोबस्तकर असम-यात्रापर जाते थे। एक बार जाकर लोग ८-१० वर्षकी मुसाफिरी करके लौटते थे। रास्ते इतने संकटमय थे कि बहुत-से लोग तो वापस ही नहीं आ पाते थे। यात्राके समय रामदयालके पास संबलस्वरूप एक धोती, एक लोटा और कुछ चना-चबैना था तथा दृढ़ विश्वास एवं साहस।

असमकी आबोहवा बहुत ही नम रहनेके कारण वहाँ मलेरिया और काला ज्वरका प्रकोप रहता था; पर व्यापारमें गुंजाइश थी, इसलिये लोग पानीकी जगह चाय पीकर रहते थे। बुखार हो जानेपर दवाइयाँ खाते। कुनैनका तो उस समयतक आविष्कार ही नहीं हुआ था।

रामदयालको राजस्थानसे तिनसुकिया (असम) पहुँचनेमें चार महीने लग गये। वहाँ जाकर उसने कपड़ेकी फेरीका काम शुरूकिया। सुबह कन्धेपर कपड़े लादकर गाँवोंमें निकलता और शामको एक या दो रुपये कमाकर अपने डेरेपर वापस आ जाता।

इस समयतक वहाँ मारवाड़ियोंकी कुछ दुकानें हो गयी थीं और यह आम रिवाज था कि नया आया हुआ कोई भी व्यक्ति निस्संकोच उनके बासेमें खाना खा सकता था। जब अच्छी कमाई होने लगती तब अपनी

अलग व्यवस्था कर लेता। इसके सिवाय पहलेसे बसे हुए मारवाड़ियोंसे व्यापारमें भी वाजिब सहायता और प्रोत्साहन मिलता रहता था। रामदयालको इनका पूरा सहयोग मिला।

कड़ी मेहनत और ईमानदारीसे दस वर्षोंमें उसने इतना धन कमा लिया, जिससे वह अपने पिताका पूरा कर्ज ब्याजसहित चुका सकता था। वर्षमें एक-दो बार किसी पड़ोसीसे लिखाया हुआ माँका पत्र मिल जाता, जिसमें देश आनेका तकाजा रहता था। उन दिनों बेचारी पत्नी पतिको पत्र देनेका साहस ही नहीं कर सकती थी।

इसी प्रकार ६-७ वर्ष और व्यतीत हो गये। इस बीचमें रामदयालके पास ४०-५० हजारकी पूँजी हो गयी और अपनी निजकी दुकान भी। एक दिन अचानक ही पत्र मिला कि उसकी माँ सख्त बीमार है और अन्तिम समयमें उसको देखना चाहती है।

अपनी दुकानकी सारी व्यवस्था मुनीमोंको सौंपकर वह देशके लिये रवाना हुआ और जैसे आया था, उसी प्रकार तीन महीनेमें भिवानी पहुँचा। इस समयतक रेल-लाइन कानपुरसे भिवानीतक बन गयी थी। असम जाते वक्त रुपयोंके अभावमें रामदयाल अपने घर (राजस्थान)-से पैदल ही कानपुरतक आया था, पर अब उसकी स्थिति अच्छी हो गयी थी, इसलिये भिवानीसे ऊँट किरायेपर लेकर वह अपने गाँवके लिये रवाना हुआ। १६-१७ वर्षके लम्बे समयके बाद वह राजस्थान लौट रहा था। असमकी हरी-भरी उपजाऊ भूमिसे उसका इतना सान्निध्य हो गया था कि इस रेतीली मरुभूमिको एक प्रकारसे भूल-सा गया था, परन्तु जैसे ही उसने बड़े-बड़े टीलों और उनकी चमचम करती हुई बालूको देखा तो उसे अपने बचपनके दिन याद आ गये, जब वह इनपर हम-उम्र संगी-साथियोंके साथ खेलता और लोटता था। उसका मन हुआ कि ऊँटपर से इसी दम उतर पड़े और जी-भरकर एक बार फिर इस रेतका आलिंगन करे।

चार दिन बाद, एक सुबह जब वह अपने गाँवके काँकड (सीमा)-पर पहुँचा तो देखा कि कुछ व्यक्ति एक सधवा स्त्रीकी अर्थी लिये हुए जा रहे हैं। रामदयाल १६-१७ वर्षके बाद गाँव लौटा था, इसलिये न तो वह किसीको पहचानता था और न कोई उसे ही। अर्थीके साथ जा रहे लोग आपसमें बातें कर रहे थे कि इस बेचारी (मृत महिला)-ने जीवनमें देखा ही क्या? १७ वर्ष पहले ब्याह होते ही पति परदेश चला गया और अभीतक वापस नहीं लौटा। एकमात्र सासका सहारा था, वह भी तीन महीने पहले इसे सदाके लिये छोड़ गयी।

जिस वात्सल्यमयी माँ और स्नेहमयी पत्नीसे मिलनेकी आकांक्षा लिये वह आया था, वे दोनों ही अब नहीं रहीं। जो कुछ शेष रहा, वह था गाँव-पड़ोसके लोगोंके द्वारा निन्दा-स्तुति। रामदयालने अपने पिताका कर्ज चुकाया और उलटे पैरों चुपचाप वापस लौट गया। उसका पैतृक मकान अभी था, परंतु सूने मकानमें जानेकी हिम्मत नहीं हुई। इतने बड़े संकटमें भी उसे संतोष और सहारा इसी बातका था कि उसने अपने पिताका सारा कर्ज ब्याजसहित चुका दिया था।

रामदयालके पिताने उसे केवल एक कागज दिया था, जिसपर लेनदारोंके नाम और रकमें लिखी थीं। उस समय न तो स्टाम्पके कागजपर ही कर्जकी लिखा-पढ़ी होती थी और न कोई गवाह या जामिन होते थे, परंतु वे लोग सबसे बड़ी लिखा-पढ़ी और गवाह-जामिन ईश्वरको ही मानते थे और पिता-पितामहका कर्ज चुकाये बगैर सार्वजनिक उत्सवोंमें कभी-कदाच ही शामिल होते थे। ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे कि ३०-४० वर्ष बादतक पुत्र और पौत्रोंने अपने पिता और पितामहके कर्ज चुकाये हैं।

यही कारण है कि हालके वर्षोंतक हमारे पूर्वजोंके (बिना मात्राके हरफोंमें) लिखे बही-खातोंकी अदालतमें भी साख और इज्जत थी।

[प्रेषक—श्रीनन्दलालजी टांटिया]

भारतीय संस्कृतिका मूलाधार—गोसेवा

(श्रीपंकजकुमारजी झा, नव्य व्याकरणाचार्य)

भारत एक धर्मप्रधान देश है तथा हम भारतीयोंके प्राण धर्ममें ही रहते हैं। धर्मरूपी अट्टालिकाको प्राप्त करनेके लिये सेवारूपी सोपान अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। विविध प्राणियोंकी सेवामें विश्वकी माता गौकी सेवाका सर्वोच्च स्थान है; क्योंकि गाय अत्यन्त उपकारी होनेके साथ-साथ मोक्षदायिनी भी है। **'गावो विश्वस्य मातरः'**—इस वचनानुसार गायके प्रति भारतीयोंकी श्रद्धा-भावना न तो मनोवैज्ञानिक कुतूहल ही है और न निराधार विश्वासकी बहक ही। इसका आध्यात्मिक सिद्धान्तके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह महान् भारतीय धर्मका एक अंग है। गौके अंग-अंग और रोम-रोममें देवताओंका निवास माना जाता है। ऐसा समझना उचित ही है; क्योंकि—

सर्वे देवा गवामङ्गे तीर्थानि तत्पदेषु च।
तद् गुह्येषु स्वयं लक्ष्मीस्तिष्ठत्येव सदा पितः॥

(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण २९।९१)

अर्थात् गौके शरीरमें समस्त देवगण निवास करते हैं और गौके पैरोंमें समस्त तीर्थ निवास करते हैं। गौके गुह्य भागमें लक्ष्मी सदा वास करती हैं।

अनेक विद्वानोंकी धारणा है कि वैदिककालके प्रारम्भमें गोमेध (गोबलि)-की प्रथा यज्ञकी मुख्य क्रिया थी, किंतु यह धारणा गलत है। यथा—

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां
स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय
मा गामनागामदितिं वधिष्ट॥

(ऋग्वेद ८।१०१।१५)

ऋग्वेदके उपर्युक्त मन्त्रसे इसकी पुष्टि होती है कि गौ शत्रुओंको रुलानेवाले वीर मरुतोंकी माता, वसुओंकी कन्या, अदितिके पुत्रोंकी बहन तथा अमृतका तो मानो केन्द्र ही है। इसलिये मैं विवेकी मनुष्योंसे घोषणापूर्वक कहता हूँ कि निरपराध तथा अवध्य गौका वध न करें। शास्त्रोंमें 'गौरवध्या' का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। गौकी महिमा अथर्ववेदके निम्नलिखित मन्त्रोंसे भी स्पष्ट है—

यश्च गां पदा स्फुरति प्रत्यङ् सूर्यं च मेहति।
तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम्॥

(अथर्ववेद १३।१।५६)

अर्थात् जो गायको लात मारता है तथा सूर्यके सम्मुख मल-मूत्रादि त्याग करता है, वह पुरुष जड़-मूलसे नष्ट हो जाता है।

मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत
गौरङ्गैः पुरुधायजन्त।

(अथर्ववेद ७।५।५)

आशय यह है कि वे याजक मूढ़ होते हैं, जो कुत्ते, गौ आदि पशुओंके अंगोंसे हवन करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि गौकी बलिद्वारा यज्ञ करनेकी प्रथा वैदिक युगमें हेय समझी जाती थी। महर्षि पाणिनिके अनुसार तो गोबलिका अर्थ पूजोपहार, भेंट या गायोंका खाद्य पदार्थ होता है न कि गोवध। रघुवंशके दूसरे सर्गमें **'ततो न्यस्तबलिप्रदीपाम्'** पद आया है, जिसमें बलिका अर्थ-स्पष्टतया 'नन्दिनी' गौके लिये उसके सम्मुख रखे गये घासादि खाद्य पदार्थका बोध होता है। राजा दिलीप 'नन्दिनी' की सेवामें रत थे। उनका एकमात्र उद्देश्य था, गौकी सेवा और रक्षा। अतएव यह बलि शब्द स्पष्टतया 'नन्दिनी' के लिये भेंट या पूजोपहार आदि अर्थ ही व्यक्त करता है, न कि उसकी हत्या।

महाभारतमें कहा गया है कि हे राजेन्द्र युधिष्ठिर! जो लोग गोरक्षा, स्त्रीरक्षा, गुरु और ब्राह्मणकी रक्षाके लिये प्राण देते हैं, वे इन्द्रलोकके अधिकारी होते हैं। महाभारतमें ही लिखा है कि जो उच्छृंखलतावश मांस बेचनेके लिये गोहिंसा करते हैं, गोमांस खाते हैं तथा स्वार्थवश कसाईको गाय मारनेकी सलाह देते हैं, वे

महान् पापके भागी होते हैं।

ऋग्वेद (१०।८७।१६)-में कहा गया है कि जो सर्वभक्षी दानवीय वृत्तिको अपनाकर मनुष्य, घोड़ेका और गायका मांस भक्षण करता हो या दूधकी चोरी करता हो, ऐसे मनुष्यके सिरको कुचल देना चाहिये—
यः पौरुषयेण क्रविषा समंकते यो अश्व्येन पशुना यातुद्यानः।
यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्‍च॥

महाभारतके अनुशासन पर्वके अनुसार गोघाती, उसका मांस खानेवाले तथा उसकी हत्याका अनुमोदन करनेवाले पुरुष गायके शरीरमें जितने रोयें होते हैं, उतने वर्षोंतक नरकमें पड़े रहते हैं। पुराणोंमें पद-पदपर गायकी अनन्त महिमा गायी गयी है। भगवान् श्रीकृष्ण तो '**गावो मे ह्यग्रतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः। गावो मे हृदये सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम्॥**' ऐसी घोषणा करके अपने चरित्रको गो-महिमासे ओतप्रोत करते हैं।

विभिन्न धर्मसम्प्रदायोंमें 'गो-सेवा'—बौद्ध धम्म-सुत्तमें भगवान् बुद्ध कहते हैं कि पूर्वकालमें ऋषि लोग माता-पिता और बन्धुओंके समान ही गायोंको अपना मित्र मानते थे।* गायके दुग्धसे औषधनिर्माण होता था। वह अन्न, बल और सुख देती है। यह सब जानकर बौद्धधर्मावलम्बी सदा सर्वदा गोमाताकी पूजा करते हैं।

जैन-धर्मके पंचमहाव्रतोंमें भी अहिंसा धर्म सर्वोपरि माना गया है। अहिंसा धर्म-प्रेमी होनेके कारण गोपालन तथा गोसेवा-जैसे महान् कर्ममें जैनी लोग भी बहुत आगे हैं।

यह निर्विवाद है कि पारसियोंके पूर्वजों और वैदिक आर्योंमें बहुतसे आचार-विचार समान थे। पारसीमतानुसार, भगवान्ने महान् जरथुस्त्रको ईरानमें जन्म देकर वहाँके लोगोंको गोकी इज्जत सिखानेके लिये भेजा था। पारसी धर्मके उपास्य देवताका नाम 'अहुर मजदा' है तथा इस धर्मके प्रवर्तकका नाम है 'जरथुस्त्र'। जरथुस्त्रद्वारा प्रवर्तित धर्ममें गाय जीवनकी आत्मा ही नहीं, सारे विश्वकी प्रतीक बनी।

'**सर्वे देवाः स्थिता देहे सर्वदेवमयी हि गौः**' की धारणाको लेकर इसने गोसेवाकी प्रथा पारसी धर्ममें भी लागू की। जरथुस्त्र धर्मका एक अत्यन्त महान् और पवित्र उत्सव 'निरंगदीन' है। उसमें वृषभ-मूत्र अभिमन्त्रित करके सँभालकर रखा जाता है। सारे शुभ अवसरोंपर इस अभिमन्त्रित गोमूत्रका उपयोग आवश्यक समझा जाता है। पुरोहितोंके प्रत्येक दीक्षा-संस्कारमें इस पवित्र पदार्थका उपयोग आवश्यक है। इसका पान किया जाता है तथा इसे शरीरपर भी मला जाता है। आज भी पारसी लोग घास खरीदकर सड़कोंपर गायों और गोजातिके अन्य मारे-मारे फिरनेवाले पशुओंको खिलाया करते हैं। गायका महत्त्व पारसी धर्मग्रन्थ 'यश्‍न' (२९।१)-की गाथाओंसे स्पष्ट है 'जो गायके प्रति दयालु होते हैं, जरथुस्त्र उनपर दया करते हैं, उन्हें आशीर्वाद देते हैं। किंतु जो गायको किसी भी प्रकारका कष्ट पहुँचाते हैं, उनपर वे बड़ी कड़ी दृष्टि रखते हैं तथा उन्हें अभिशाप देते हैं।' 'यश्‍न (३२।१२)-की गाथाओंके अनुसार दुष्टोंका एक लक्षण यह भी है कि अकारण ही गायोंको सताते हैं।' यश्‍न (४६।४)-में ईश्वरके सभी सच्चे भक्तोंको धर्मविरोधी और गो-द्रोही लोगोंके प्रयत्नोंको विफल कर देनेके लिये कहा गया है। यश्‍न (५१।१४)-में जरथुस्त्र अपने भक्तोंको बताते हैं कि जो लोग गायकी सेवासे जी चुराते हैं, परलोक जानेपर वे नरक या असत्य लोकको प्राप्त होते हैं। यश्‍न (३३।४)-में जरथुस्त्र भगवान्से प्रार्थना करते हैं कि प्रभो! हमारे हृदयके अन्य दोषोंके साथ-साथ गोहितके प्रति हमारी उदासीनता भी नष्ट कर दीजिये। यश्‍न (४५।९)-में जरथुस्त्रने ईश्वरसे विनम्र प्रार्थना की है कि मनुष्य-जातिके अभ्युदय तथा गौओंका हित करनेके लिये आवश्यक बुद्धि, सदाचार और दृढ़ता प्रदान करें।

कुरानके पहले अरबमें गायकी पूजा विधिवत् होती

* यथा माता भाता अञ्जे वापि च जातका। गावो नो परमा मित्ता यासु जायन्ति ओसधा॥

थी। कुरानमें कहा है—'जो बैलको काटता है, वह उस आदमीकी तरह है, जो मनुष्यको मारता है।' भारतके अधिकांश मुसलमान शासकोंने हिन्दुओंके भावोंका बराबर आदर किया है। इतिहासकार 'हन्टर' लिखते हैं—प्रारम्भमें मुसलमान बादशाहोंने गोवधपर एक तरहका कर लगा दिया था जिसे 'जजारी' कहते थे। यह कर कसाइयोंसे वसूल किया जाता था। फीरोजशाह तुगलकके समयमें यह कर जारी था। वर्नियर आदि विदेशी यात्री उस समय भारत आये थे। उनके वर्णनमें आता है कि उस समय 'गोवध' मनुष्य वधकी तरह दण्डनीय था। १८ नवम्बर, सन् १९२२ ई० के 'तौफी हिन्द' नामक पत्रने इस आशयका एक वक्तव्य निकाला था कि लोदी शासकोंके समय भारतमें कहीं गोवध नहीं होता था। १७वीं सदीमें भारत आनेवाले यात्रियोंने ऐसी घटनाओंका उल्लेख किया है, जिनसे प्रकट होता है कि गोवध करनेवालोंको बादशाह प्राणदण्डतक देते थे। मृत्युके समय बाबरने अपने पुत्र हुँमायुंके नाम गोवधके विरुद्ध एक पत्र लिखा था। बादशाहद्वारा हस्ताक्षरित उस पत्रकी मूल प्रति भोपाल राज्य-पुस्तकालयमें सुरक्षित रखी गयी थी। मुसलमानोंमें ऐसे कितने ही सन्त, वैष्णव और कवि—कबीर, जायसी, रसखान, रहीम आदि हुए हैं, जिन्होंने मुक्तहृदयसे गो-सेवा तथा गोरक्षाका समर्थन किया है। इन सबोंका तात्पर्य कहीं-न-कहीं इस सुभाषित वचनसे मिलता है कि—

यस्यैकापि गृहे नास्ति धेनुर्वत्सानुसारिणी।
मंगलानि कुतस्तस्य कुतस्तस्य तमः क्षयः॥

अर्थात् जिस किसी भी मनुष्यके घर एक सवत्सा गाय न हो, जो गोसेवा न करता हो, उसके मंगलमय जीवनको मैं कहाँसे समझूँ तथा उसके जीवनके समस्त दुःख, कष्टरूप अन्धकारका क्षय कहाँसे हो? अर्थात् कहीं भी उसके मंगलकी कामना नहीं हो सकती, जो गो-सेवामें तत्पर नहीं हैं।

भारतके प्रसिद्ध विद्वान् भक्त और दार्शनिक डॉ० मुहम्मद हाफिज सैयद लिखते हैं कि 'जब मैं इंग्लैण्डमें था, मैंने वहाँकी बहुत-सी दुग्धशालाओंको देखा था। वहाँका उच्चकोटिका प्रबन्ध देखकर मैं तो आश्चर्यचकित रह गया। लन्दनकी दुग्धशालाओंकी गायोंको निश्चित समयपर भोजन दिया जाता है तथा प्रतिदिन स्नान कराया जाता है। गाय दुहनेवाली ग्वालिनोंके नख प्रतिदिन काटे जाते हैं। यदि चाहते तो हम भी अँगरेजोंकी तरह सावधानीसे गोमाताका पालन-पोषण कर सकते थे। अँगरेज लोग शुद्ध गोदुग्ध और उसके पोषक तत्त्वोंको बहुत महत्त्व देते हैं, परंतु हम भारतवासी इन मूक प्राणियोंके प्रति केवल मौखिक सहानुभूति दिखाकर ही पूर्ण सन्तोष-लाभ कर लेते हैं और अपने धार्मिक भावोंको कार्यरूपमें बहुत कम परिणत करते हैं।' क्या हिन्दू एक मुसलमानके उक्त हृदयोद्‌गारपर ध्यान देंगे? हिन्दू-धर्ममें विभिन्न मत हैं, उनमें बहुत-सी असमानताएँ भी हैं, किंतु इन सब विषमताओंके बीच भी गोरक्षा और गोसेवा ही वह केन्द्र-बिन्दु है, जहाँपर सभी एकमत हैं। भारतके पारसी, जैन, सिख, बौद्ध आदि सम्प्रदाय भी अपने-अपने दृष्टिकोणसे गायका आदर करते हैं। अतएव समस्त भारतीयोंका यह परम कर्तव्य है कि वे इस धर्मप्रधान एवं कृषिप्रधान भारतके लिये अतीव उपयोगी जीव (गाय)-के वास्तविक आदर और सेवाकी भावनाको सक्रिय महत्त्व दें। इसी भावनाकी नींवपर भारतीय संस्कृतिका विशाल नूतन प्रासाद खड़ा हो सकता है, जिसकी भव्यता समग्र भूमण्डलकी दृष्टि अपनी ओर आकृष्ट करनेमें समर्थ होगी। कहा भी गया है—

गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः।
अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही॥

अर्थात् गाय, विप्र, वेद, सती, सत्यवादी, निर्लोभी तथा दानशीलोंके द्वारा यह पृथ्वी धारित है। इन सबोंमें गौका स्थान सर्वाग्रणी है। अतएव गोसेवा सर्वतोभावेन करनी ही चाहिये, जिससे हमारी भारतीय संस्कृतिका मूलधार अचल, अडिग हो।

साधनोपयोगी पत्र

(१)

आपसी झगड़ेका त्यागपूर्वक समझौता कर लेना चाहिये

प्रिय भाई .... सप्रेम हरिस्मरण! तुम्हारा पत्र मिला। तुमने जो कुछ लिखा, सब पढ़ लिया। भाई! यह सत्य है कि तुम्हारे साथ उनका बरताव-व्यवहार अच्छा नहीं हुआ, वरं अवाञ्छनीय ही हुआ; पर तुमने जो कुछ किया, तुम ध्यान देकर देखो—क्या यह बरताव अच्छा है? तुम्हारे साथ वैसा ही बरताव कोई करता तो क्या तुम उसे अच्छा मानते? कम-से-कम चुपचाप क्या सहन ही कर लेते? मनुष्यको वास्तवमें आत्मसुधार करना है। दूसरेका कर्तव्य न सोचकर अपना कर्तव्य सोचना है और दूसरेकी भूल न देखकर अपनी भूल देखनी है। अपनी भूलके लिये पश्चात्ताप करना तथा फिर ऐसी भूल न हो, इसके लिये दृढ़ संकल्प करना है। वास्तवमें बुद्धिमान् तो वह है, जो प्रतिदिन प्रातः और सायं अपनी दिन-रातकी भूलोंको याद करके फिर वैसी भूल न करनेका भगवत्कृपाके बलपर प्रतिज्ञा करता है।

याद रखना चाहिये—यह परम सत्य है—तुम्हारे अपने ही पूर्वकृत कर्मके अनुसार बने हुए प्रारब्धके बिना दूसरा कोई भी तुम्हारा अहित नहीं कर सकता है। जो ऐसा करनेकी सोचता है या प्रयत्न करता है, वह अवश्य ही अपना बुरा करता है। इसी प्रकार तुम भी उसके प्रारब्धके बिना दूसरे किसीका बुरा नहीं कर सकते; बुरा करनेका विचार करके अपना बुरा अवश्य कर लेते हो; अतएव दूसरोंको सुख पहुँचाने, उनका हित करनेकी मनुष्यको चेष्टा करनी चाहिये। किसीका भी न बुरा चाहना तथा न बुरा करना ही चाहिये। जो तुम्हारा बुरा करना चाहते हैं, वे बेचारे मूर्खतासे अपना ही बुरा कर रहे हैं; क्योंकि तुम्हारे प्रारब्धके बिना तुम्हारा तो बुरा वे कर ही नहीं सकते, अतएव वे दयाके पात्र हैं। उनके लिये भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये कि 'भगवान् उनको सद्बुद्धि प्रदान करे।' मेरी तो यह नम्र सम्मति है कि आपसमें लड़ाई-झगड़ा न कर—एक-दूसरेका अहित न चाहकर त्यागपूर्वक समझौता कर लेना चाहिये। दोनों ओर त्यागवृत्ति होगी तो 'राम-भरतकी तरह' लड़ाई होगी नहीं, प्रेम बढ़ेगा और मिलेगा दोनोंको ही वही, उतना ही, जितना वस्तुतः भगवान्के मंगल-विधानके अनुसार मिलना चाहिये। अतएव शीघ्र-से-शीघ्र समझौता कर लेना चाहिये। आपसी झगड़ेको लेकर कोर्टमें जाना तो बहुत बड़ी भूल करना है। तुम बुद्धिमान् हो, गहराईसे सोचना। भगवान् तुम सबको सम्मति देनेकी कृपा करें। शेष भगवत्कृपा।

(२)

भ्रान्त प्रचार

सम्मान्य महोदय! सादर नमस्कार। आपका कृपापत्र मिला। आपने जिन योगीजीके सम्बन्धमें पूछा है, उनको मैं बहुत दिनोंसे जानता हूँ; पर उनकी आध्यात्मिक स्थिति किस स्तरपर पहुँची हुई है, इसका मुझे कुछ भी पता नहीं है; क्योंकि यह सर्वथा स्वसंवेद्य विषय है। अवश्य ही वे 'ध्यान'के सम्बन्धमें जो कुछ कहते हैं और उसकी जो साधन-पद्धति बताते हैं, वह मेरी समझमें नहीं आती। वरं मुझे उसमें कुछ विशेष सारकी बात नहीं दीखती। वे यदि अबसे पूर्वके आचार्यों, सन्तों तथा शास्त्र-व्याख्याकारोंको भ्रान्त मत फैलानेवाला मानते हैं तो यह भी कहा जा सकता है कि वे तो भ्रान्त थे या नहीं, भगवान् ही जानते हैं, परंतु ये स्वयं या तो भ्रान्त हैं; या पता नहीं क्यों? समझ-बूझकर भ्रान्तमत फैलाते हैं। वे गीताके जिन श्लोकोंकी अधूरी व्याख्यासे अपने मतका समर्थन करते हैं, वस्तुतः उनसे उनका अपना ही खण्डन होता है। गीताके द्वारा उनका मत किसी प्रकार भी अनुमोदित नहीं है, यह समझ लेना चाहिये।

रही अनुयायी मिलनेकी तथा उनके व्याख्यानोंमें भीड़ होनेकी बात, सो भीड़के लोगोंकी संख्या किसी मतके निर्भ्रान्त तथा सत्य होनेका कदापि प्रमाण नहीं है। जिसमें कुछ भी प्रयास करना न पड़े; संयम-नियमकी, आसक्ति-कामनाके त्यागकी, विषयानुराग, भोगलिप्सा एवं इन्द्रियोंके आरामका त्याग करनेकी, किसी साधन-भजनकी एवं मन-इन्द्रियोंके संयमकी कोई आवश्यकता

न हो और शान्ति-सुख, बन्धन-मुक्ति अनायास ही मिल जाते हों—ऐसे सुलभ आचरणकी बात सुनने तथा उसके अनुसार करनेकी इच्छावाले बहुत लोग मिल जायँ, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। पर इस भ्रान्त सिद्धान्तके परिणाममें किसी प्रकारके पारमार्थिक लाभकी आशा नहीं करनी चाहिये। आजकल बहुत-से अशास्त्रीय मत-पन्थ चल रहे हैं, वैसा ही इसे भी समझना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(३)

देश तथा देशसेवकके स्वार्थमें एकात्मता हो

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका लिखना सत्य है, परंतु जबतक देशके स्वार्थके साथ देशसेवकका स्वार्थ सर्वथा एकात्मताको नहीं प्राप्त होगा, तबतक देशसेवकके न चाहनेपर भी उसके द्वारा अपने स्वार्थसाधनके लिये देशके स्वार्थकी हानि होती ही रहेगी। यही कारण है कि आजके अधिकांश देशसेवक अपने व्यक्तिगत स्वार्थसाधनके लिये इस प्रकारके अवाञ्छनीय कार्य कर रहे हैं, जिससे देश तो डूबता ही है, वे स्वयं गिरते हैं तथा जनताके सामने एक दूषित आदर्श रखनेका पाप भी करते हैं। चुनावका वर्तमान स्वरूप इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। अपने लाभके लिये एक-दूसरेको बदनाम करने, गिराने तथा पराजित करानेके जो हथकण्डे अपनाये जा रहे हैं, उनसे दोनोंका ही पतन होता है; पर तमसाच्छन्न बुद्धिके कारण यह सत्य अप्रत्यक्ष रह जाता है। मेरी रायमें आपको इस पचड़ेमें न पड़कर बाहर रहकर रचनात्मक कार्योंके द्वारा वास्तविक सेवाका प्रयास करना चाहिये; धारा—सभा या संसद्के बाहर सेवाका क्षेत्र बहुत बड़ा है। आप बुद्धिमान् हैं, सोचकर अपना कर्तव्य निश्चित कीजिये। मैं तो राजनीतिक क्षेत्रसे सर्वथा अलग हूँ, अतएव कुछ कर भी नहीं सकता। शेष भगवत्कृपा।

(४)

सच्ची भक्तिके लक्षण

सम्मान्य महोदय! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। भक्ति सुलभ है। भगवान्का अनन्य आश्रय लेनेपर या उनके अनन्य शरणागत होनेपर वे सब पापोंका नाश करके अपना प्रेम दे देते हैं, यह सत्य है। पर ऐसा होनेके लिये अनन्य निष्ठा तथा कभी न हटनेवाला नित्य अखण्ड अटल विश्वास होना चाहिये। भक्तका बाना (माला, कण्ठी, चन्दन, साधुवेष) धारण करना अच्छा है—बाहरी वैष्णवता भी लाभकारी होती है, यदि दम्भ न हो तो—पर जीवनमें भक्तिके प्राकट्य होनेपर तो भक्तका स्वरूप ही दूसरा हो जाता है। सारे सद्‌गुण उसमें आप ही आ जाते हैं और उन सद्‌गुणोंके आधारपर ही वह जाना जा सकता है कि यथार्थमें उसे भक्तिकी प्राप्ति हुई या नहीं। गीताके १२वें अध्यायके १३वें श्लोकसे २०वें श्लोकतक भगवान्ने अपने प्रिय भक्तोंके भाव, विचार, आचरण और लक्षणोंका बड़ा ही सुन्दर तथा विशुद्ध वर्णन किया है। भक्तिकी प्राप्ति चाहनेवालोंको बहुत ध्यानसे इस प्रसंगका अध्ययन करना तथा इसमें बताये हुए लक्षणोंको अपनेमें लानेका प्रयत्न करना चाहिये। श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीराम बड़ी नम्रताके साथ समस्त प्रजाजनको अपना अनुशासन सुनाते हुए कहते हैं—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥
जौं परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनि मम बचन हृदयँ दृढ़ गहहू॥
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥
कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥
मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा॥
बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा॥
मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह।
ता कर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह॥

इस प्रसंगसे थोड़ा आगे श्रीकाकभुशुण्डिने गरुडजीसे भक्तिकी महिमा बतलाते हुए भक्तिके बड़े सुन्दर लक्षण बतलाये हैं। उक्त प्रसंगको भी ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये और भक्तिके बाहरी बानेके साथ ही सच्चे मनसे उपर्युक्त लक्षणोंको आदर्श मानकर जीवनमें उतारते हुए भक्ति-साधनमें अग्रसर होना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

व्रतोत्सव-पर्व

सं० २०७२, शक १९३७, सन् २०१५, सूर्य दक्षिणायन, शरद-ऋतु, कार्तिक कृष्णपक्ष

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनांक	मूल, भद्रा, पंचक तथा व्रत-पर्वादि
प्रतिपदा दिनमें ३। ४१ बजेतक	बुध	भरणी रात्रिमें ११। २९ बजेतक	२८अक्टूबर	**वृषराशि** रात्रिशेष ५। ११ बजेसे।
द्वितीया ,, १। ४१ बजेतक	गुरु	कृत्तिका ,, १०। १७ बजेतक	२९ ,,	**भद्रा** रात्रिमें १२। ५१ बजेसे।
तृतीया ,, १२। ० बजेतक	शुक्र	रोहिणी ,, ९। २७ बजेतक	३० ,,	भद्रा दिनमें १२। ० बजेतक, **संकष्टी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत (करवाचौथ), चन्द्रोदय** रात्रिमें ८। ४ बजे।
चतुर्थी ,, १०। ४१बजेतक	शनि	मृगशिरा ,, ८। ५७ बजेतक	३१ ,,	**मिथुनराशि** दिनमें ९। १३ बजेसे।
पंचमी ,, ९। ४५ बजेतक	रवि	आर्द्रा ,, ८। ५३ बजेतक	१नवम्बर	× × ×
षष्ठी ,, ९।१९ बजेतक	सोम	पुनर्वसु ,, ९। १८ बजेतक	२ ,,	**भद्रा** दिनमें ९। १९ बजेसे रात्रिमें ९। २० बजेतक, **कर्कराशि** दिनमें ३। १२ बजेसे।
सप्तमी ,, ९। २३ बजेतक	मंगल	पुष्य ,, १०। १४ बजेतक	३ ,,	**अहोईव्रत, चन्द्रोदय** रात्रिमें ११। ४३ बजे, **मूल** रात्रिमें १०। १४ बजेसे।
अष्टमी ,, ९। ५८ बजेतक	बुध	आश्लेषा ,, ११। ३९ बजेतक	४ ,,	**सिंहराशि** रात्रिमें ११। ३९ बजेसे, **बुधाष्टमी।**
नवमी ,, ११। ३ बजेतक	गुरु	मघा ,, १। ३२ बजेतक	५ ,,	**भद्रा** रात्रिमें ११। ४९ बजेसे, **मूल** रात्रिमें १। ३२ बजेतक।
दशमी ,, १२। ३६ बजेतक	शुक्र	पू० फा० ,, ३। ४७ बजेतक	६ ,,	**भद्रा** दिनमें १२। ३६ बजेतक।
एकादशी ,, २। २८ बजेतक	शनि	उ० फा० रात्रिशेष ६। १७ बजेतक	७ ,,	**कन्याराशि** दिनमें १०। २५ बजेसे, **रम्भा एकादशीव्रत (सबका), गोवत्सद्वादशीव्रत, विशाखाका सूर्य** दिनमें १। ५१ बजे।
द्वादशी सायं ४। ३४ बजेतक	रवि	हस्त अहोरात्र	८ ,,	**प्रदोषव्रत।**
त्रयोदशी रात्रिमें ६। ४२ बजेतक	सोम	हस्त दिनमें ८। ५५ बजेतक	९ ,,	**भद्रा** रात्रिमें ६। ४२ बजेसे, **तुलाराशि** रात्रिमें १०। ११ बजेसे, **धनतेरस, धन्वन्तरि-जयन्ती, नरकचतुर्दशी।**
चतुर्दशी ,, ८। ४३ बजेतक	मंगल	चित्रा ,, ११। २९ बजेतक	१० ,,	**भद्रा** प्रातः ७। ४३ बजेतक, **श्रीहनुमज्जयन्ती।**
अमावस्या ,, १०। २८ बजेतक	बुध	स्वाती ,, १। ४९ बजेतक	११ ,,	**अमावस्या, दीपावली।**

सं० २०७२, शक १९३७, सन् २०१५, सूर्य दक्षिणायन, शरद्-हेमन्त-ऋतु, कार्तिक शुक्लपक्ष

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनांक	मूल, भद्रा, पंचक तथा व्रत-पर्वादि
प्रतिपदा रात्रिमें ११। ४८ बजेतक	गुरु	विशाखा दिनमें ३। ४८ बजेतक	१२नवम्बर	**वृश्चिकराशि** दिनमें ९। १८ बजेसे, **अन्नकूट, गोवर्धनपूजा।**
द्वितीया ,, १२। ४२ बजेतक	शुक्र	अनुराधा सायं ५। २१ बजेतक	१३ ,,	**काशीमें गोवर्धनपूजा, यमद्वितीया, भातृद्वितीया (भैयादूज), मूल** सायं ५। २१ बजेसे।
तृतीया ,, १। ३ बजेतक	शनि	ज्येष्ठा रात्रिमें ६। २६ बजेतक	१४ ,,	**धनुराशि** रात्रिमें ६। २६ बजेसे।
चतुर्थी ,, १२। ५२ बजेतक	रवि	मूल ,, ७। ० बजेतक	१५ ,,	**भद्रा** दिनमें १२। ५८ बजेसे रात्रिमें १२। ५२ बजेतक, **वैनायकी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, मूल** रात्रिमें ७। ० बजेतक।
पंचमी ,, १२। १४ बजेतक	सोम	पू० षा० ,, ७। ५ बजेतक	१६ ,,	**मकरराशि** रात्रिमें १२। ५९ बजेसे।
षष्ठी ,, ११। ७ बजेतक	मंगल	उ० षा० ,, ६। ४१ बजेतक	१७ ,,	**सूर्यषष्ठीव्रत, वृश्चिक-संक्रान्ति** दिनमें ११। ४५ बजे, **हेमन्त ऋतु प्रारम्भ।**
सप्तमी ,, ९। ३८ बजेतक	बुध	श्रवण ,, ५। ५७ बजेतक	१८ ,,	**भद्रा** रात्रिमें ९। ३८ बजेसे, **कुम्भराशि** रात्रिशेष ५। २४ बजेसे, **पंचकारम्भ** रात्रिशेष ५। २४ बजे।
अष्टमी ,, ७। ४७ बजेतक	गुरु	धनिष्ठा सायं ४। ५१ बजेतक	१९ ,,	**भद्रा** दिनमें ८। ४२ बजेतक, **गोपाष्टमी।**
नवमी सायं ५। ४३ बजेतक	शुक्र	शतभिषा दिनमें ३। २९ बजेतक	२० ,,	**अक्षयनवमी।**
दशमी दिनमें ३। २७ बजेतक	शनि	पू० भा० ,, १। ५५ बजेतक	२१ ,,	**भद्रा** रात्रिमें २। १७ बजेसे, **मीनराशि** दिनमें ८। १९ बजेसे।
एकादशी ,, १। ८ बजेतक	रवि	उ० भा० ,, १२। १७ बजेतक	२२ ,,	**भद्रा** दिनमें १। ८ बजेतक, **प्रबोधिनी एकादशीव्रत (सबका), मूल** दिनमें १२। १७ बजेसे।
द्वादशी ,, १०। ४४ बजेतक	सोम	रेवती ,, १०। ३६ बजेतक	२३ ,,	**मेषराशि** दिनमें १०। ३६ बजेसे, **सोमप्रदोषव्रत, सायन धनुका सूर्य** दिनमें ८। २७ बजे, **पंचक** समाप्त दिनमें १०। ३६ बजे।
त्रयोदशी ,, ८। २६ बजेतक	मंगल	अश्विनी ,, ८। ५८ बजेतक	२४ ,,	**भद्रा** रात्रिशेष ६। १६ बजेसे, **श्रीवैकुण्ठचतुर्दशीव्रत, मूल** दिनमें ८। ५८ बजेतक।
पूर्णिमा रात्रिमें ४। १९ बजेतक	बुध	भरणी प्रातः ७। ३१ बजेतक	२५ ,,	**भद्रा** सायं ५। १८ बजेतक, **वृषराशि** दिनमें १। १२ बजेसे, **कार्तिकी पूर्णिमा, गुरुनानक जयन्ती।**

कृपानुभूति

त्रिदेवोंका साक्षात्कार

भारतभूमि संत-महापुरुषोंकी तप:स्थली रही है। यहाँ जन्म लेनेवाले अनेक संत महानुभावोंने अपने अद्भुत तप: सामर्थ्यसे असंख्य अलौकिक चमत्कार कर दिखलाये हैं। इन्हीं विभूतियोंमें एक नाम है दत्तावतार परमहंस परिव्राजकाचार्य सद्‌गुरु श्रीधरस्वामी महाराज।

दक्षिण भारतको तो इन्होंने अपने परमगुरु समर्थगुरु रामदासकी आज्ञासे तप:साधनाका स्थल बनाया ही, वहीं उत्तर भारत भी आपकी इस साधनासे अनभिज्ञ न रहा। अनेक विद्वानोंको इनकी तप:साधनाके सम्मुख नत-मस्तक होना पड़ा। इन्हीं विद्वानोंमें वाराणसीके महाराष्ट्रीय परिवारमें जन्मे विद्वत् शिरोमणि वरिष्ठ पत्रकार हिन्दी एवं संस्कृतके सिद्धहस्त लेखक कल्याण मासिक पत्रके सम्पादक-मण्डलके सदस्य आचार्यप्रवर स्वर्गीय पं० श्रीगोविन्द नरहरि बैजापुरकर भी थे। आपने परमहंस परिव्राजकाचार्य सद्‌गुरु श्रीधरस्वामी महाराजसे गुरुदीक्षा ग्रहण की थी। श्रीधरस्वामी सिद्ध संत थे, उन्होंने इलाहाबादके प्रयाग त्रिवेणी संगमपर अपने तीन प्रधान शिष्योंको समीप बुलाकर एक अद्भुत दैवीय साक्षात्कारसे उन्हें अवगत कराया। इस घटनाको पढ़कर अथवा सुनकर सहसा किसी व्यक्तिको विश्वास भी नहीं होगा, किंतु सच तो यह है कि इस घटनाके प्रत्यक्षदर्शी लोग आज भी विद्यमान हैं, उनमें पं० गोविन्द नरहरि बैजापुरकर एवं मातृस्वरूपिणी सुब्राय भागवत इस संसारमें नहीं हैं, किंतु एक महाशय आज भी इस घटनाका विवेचन करते हुए फूले नहीं समाते। स्वयं पूज्य पिताश्री (बैजापुरकरजी)-ने पूज्य सद्‌गुरु श्रीधरस्वामी महाराजके समाधिस्थ होनेके पश्चात् स्वयं ही इस घटनाका प्रकटीकरण किया।

प्रयागराज इलाहाबादका त्रिवेणी संगमका वह स्थल जहाँ एक बार श्रद्धेय सद्‌गुरु श्रीधरस्वामी महाराज गंगाके मध्यमें खड़े होकर जपाराधनमें लीन थे। इसी समय अचानक उन्होंने अपने तीनों शिष्यों बैजापुरकरजी, सुब्राय भागवत, गोडसे रामदासीको तत्काल उपस्थित होनेका आदेश दिया। गुरुकी आज्ञा शिरोधार्यकर तीनों शिष्य बीच गंगामें गुरुदेवके पास आकर खड़े हो गये। गुरुदेवने इन तीनों शिष्योंके सिरपर हाथ रखा और बोले नभमण्डलकी ओर देखो। शिष्योंने गुरुके आज्ञानुसार नभमण्डलपर दृष्टि डाली। श्वेत प्रकाश दृष्टिगोचर हो रहा था। गुरुदेवने पुन: आज्ञा दी और ऊपरकी ओर देखा। तत्काल तीन तेजपुंज सम्मुख प्रकट हुए, जिनमें क्रमानुसार प्रथम सृष्टिकर्ता ब्रह्मदेव, अनन्तर जगत्पालक भगवान् विष्णु, तत्पश्चात् सृष्टि-संहारकर्ता देवाधिदेव महेशने शिष्योंके सम्मुख प्रकट होकर अपने दर्शनसे सभीको कृतार्थ किया। त्रिदेवोंके साक्षात्कारके पश्चात् गुरुदेव श्रीधरस्वामी महाराजने उस दिव्य दृष्टिको हटाकर इन सभी शिष्योंको पूर्व स्थितिमें लाकर खड़ा कर दिया। यह कहना कदापि अनुचित न होगा कि सद्‌गुरुके अद्भुत शक्ति-सामर्थ्यसे देवताओंको भी विवश होकर शिष्योंको दर्शन देनेहेतु बाध्य होना पड़ता है। जिसका ज्वलन्त उदाहरण यह घटना है। इस दिव्य दर्शनके पश्चात् प्रात:स्मरणीय पूज्य गुरुदेवने सभी शिष्योंको यह सौगन्ध दिलायी कि वे उनके जीते-जी इस घटनाका उल्लेख किसीसे नहीं करेंगे।

एक दिन वरदहल्ली शिमोगा सागरस्थित श्रीधराश्रममें अकस्मात् गुहाके भीतरसे प्रणवकी ध्वनि सुनायी पड़ी। तीन बार प्रणवका उच्चारण करने बाद पूज्य गुरुदेव श्रीधरस्वामी महाराजने पांचभौतिक शरीरका त्याग कर दिया और सदासर्वदाके लिये ब्रह्मतत्त्वमें लीन हो गये। स्वामीजीके समाधिस्थ होनेके तत्काल बाद पूज्य पिताश्री (बैजापुरकरजी)-ने असंख्य समुदायके सम्मुख इस घटनाका उल्लेख किया। जिसका श्रवण करनेका सौभाग्य हम सभीको भी प्राप्त हुआ।—**रामचन्द्र गोविन्द बैजापुरकर**

पढ़ो, समझो और करो

(१)

पशुओंपर दया

मेरी बेटी सृष्टिरूपा बारहवीं कक्षामें पढ़ रही थी। उसकी सी०बी०एस०ई० की वार्षिक परीक्षाएँ चल रही थीं। उस दिन उसकी कोई क्रियात्मक परीक्षा होनी थी। शायद सवेरे सात-आठ बजे विद्यालय पहुँच जाना था। वह जल्दी-जल्दी तैयार हुई कि समयसे विद्यालय पहुँच जाय। मैं भी उसके साथ गया कि परीक्षा समाप्त होनेपर उसे अपने साथ घर ले आऊँ।

हम दोनों समयसे काफी पहले ही विद्यालय पहुँच गये। अभी परीक्षा प्रारम्भ होनेमें पर्याप्त समय था। विद्यालय समयसे पहुँचनेके चक्करमें हम दोनों ही घरसे बस पूजाका प्रसाद ग्रहण करके आ गये थे, कुछ जलपान आदि नहीं कर सके थे। वहाँ विद्यालयके निकट ही एक दुकानदार ताजी पूड़ी बना रहा था। दो-चार लोग खा भी रहे थे। मैं अपनी बेटीके साथ वहीं चला गया। दुकानदारने एक थालीमें पूड़ी, सब्जी, रायता आदि मुझे दिया। जब वह दूसरी थाली मेरी बेटीके लिये लगाने लगा तो उसने मना कर दिया। कहने लगी 'नहीं पापा! मेरी बिलकुल इच्छा नहीं है, मैं कुछ नहीं खाऊँगी।' मैंने उसे समझाया कि क्रियात्मक परीक्षा है। पता नहीं, कब परीक्षक महोदय आयेंगे, कब परीक्षा प्रारम्भ होगी, कब समाप्त होगी, कुछ खा लेना ठीक ही रहेगा। पर वह नहीं मानी। मैं समझ गया कि इस समय इसपर परीक्षाका भूत सवार है, इससे कुछ कहना व्यर्थ होगा। मैं खाना प्रारम्भ कर चुका था, इसलिये मैंने कहा कि मैं खा लूँ तो विद्यालय चलते हैं। वह बोली—'आप आरामसे खाइये, मैं यहीं खड़ी हूँ।' वह वहीं थोड़ी दूरपर खड़ी हो गयी।

थोड़ी देरमें मैंने देखा कि मेरी बेटी पूड़ीवालेसे पूछ रही थी—'भैया! पूड़ी कितनेकी देते हैं?' उसने एक थालीका दाम बता दिया। बेटीने कहा कि ठीक है, पूड़ी दे दीजिये। पूड़ीवालेने एक थालीमें पूड़ियाँ गिनकर रखीं। बेटीने कहा कि बस और कुछ नहीं चाहिये। पूड़ीवालेने एक कागजमें पूड़ियाँ रखकर उसे दे दीं। मैं चुपचाप ये सब देख रहा था; मैंने सोचा कि शायद वह विद्यालयमें कुछ खानेके लिये अपने साथ ले जाना चाहती थी कि जब इच्छा हो तो खा ले, किंतु तभी मैंने देखा कि वह वहीं खड़ी एक कुतियाको एक-एक करके पूड़ी खिलाने लगी। जब पूड़ियाँ समाप्त हो गयीं तो भी वह कुतिया वहीं खड़ी रही। मेरी बेटीने फिर पूड़ीवालेसे पूड़ियाँ लीं और उसे खिलाने लगी। अबकी बार वह पूड़ियाँ खाकर अपने छोटे-छोटे बच्चोंसहित वहाँसे चली गयी।

अबतक मैं खा चुका था। मैं हाथ धोने लगा तो मैंने देखा कि सृष्टिने अपने बस्तेमेंसे बटुआ निकाला और उसमेंसे पैसे निकालकर दुकानदारको देने लगी। मैंने उसे रोका कि मुझे पैसे देने ही थे, उसीके साथ मैं उन पूड़ियोंके पैसे भी दे देता। पर उसने मुझे मना कर दिया। उसने कहा—पापा! इन पूड़ियोंके पैसे मैं ही दूँगी। मैंने उसे दोबारा मना नहीं किया। उसने पैसे दे दिये। मैंने भी पैसे दे दिये और हम विद्यालयकी ओर चल दिये।

रास्तेमें वह मेरेसे कहने लगी—'पापा! वह कुतिया मुँह उठाकर पूड़ी खानेवालोंकी ओर देख रही थी, मुझे लगा वह भूखी थी, उसके छोटे-छोटे बच्चे भी थे, इसीलिये मैंने उसे पूड़ी खिला दी। आपको बुरा तो नहीं लगा?' मैंने उससे कहा—'नहीं बेटे! यह तो तुमने बहुत अच्छा काम किया है।'

मन-ही-मन मैं सोचने लगा कि मेरी यह बेटी जो कि अपने जेबखर्चमेंसे एक रुपया भी आसानीसे व्यय करनेको तैयार नहीं होती, इस कामके लिये इतने रुपये खर्च करके भी कितनी प्रसन्न और सन्तुष्ट दिखायी दे रही थी। मुझे यह सोचकर अपने ऊपर शर्म भी आयी कि जो मेरी बेटीने सोचा और किया, क्या वह मुझे नहीं करना चाहिये था; क्योंकि उन पशुओंको वहाँ खड़े हुए

मैं भी देख रहा था। पर लगता है मुझे अपनी बेटीसे ही यह सीख लेनी थी! जो भी हो, किसी भी जीव और विशेषत: किसी पशु-पक्षीकी क्षुधा-पिपासा शान्त करना हम सभीका कर्तव्य है।—**कैलाश पंकज श्रीवास्तव**

(२)

कदम्बका औषधीय महत्त्व

कदम्बके पेड़के पास रहनेवालोंको कभी अस्थमा नहीं होता। जिन्हें जुकाम बिगड़नेसे या अन्यान्य कारणोंसे अस्थमा हो जाता है, वे भी कदम्बसे ठीक हो जाते हैं। ९० दिनतक यदि वे ७ पत्ते कदम्बके पानीसे धोकर खायें तथा उबला पानी पीते रहें तो इस व्याधिसे मुक्ति मिल जाती है।

कदम्बके पत्तोंको आधा किलो पानीमें उबालें, जब लगभग १०० ग्राम रह जायें तो सुबह खाली पेट लेनेसे (लेनेके बाद एक घण्टेतक कुछ नहीं खायें) मात्र ९० दिनोंमें घुटनोंके दर्दसे मुक्ति मिल जाती है एवं १८० दिन लेनेपर साथमें कुटकीका पानी ६० मिनटके अन्तरालसे लेनेपर डायबिटीजका रोग खत्म हो जाता है। (५०० ग्राम पानीसे २५० ग्राम हो जानेपर उपयोगमें ले)।

[प्रेषक—सत्यनारायण, मो० नं० ०९४६०९९४८६०]

(३)

सभी मनुष्य ऐसे ही बनें तो—

एक विद्यालयके प्रधानाचार्य देखनेमें शान्त, गम्भीर, मितभाषी और वर्षोंके अनुभवी थे। उनकी धर्मपत्नी भी उतनी ही मिलनसार और सद्भावपूर्ण थीं। वे सुखमय दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करते थे। किसी वस्तुकी कमी नहीं थी।

प्रधानाचार्यके जीवनकी विशेषता थी, उनकी पत्नीकी अनुकूलता। ऐसा दाम्पत्य-जीवन सौभाग्यसे ही प्राप्त होता है। उनके विद्यालयमें कोई विद्यार्थी अपंग हो, बहरा हो अथवा तोतला हो तो आचार्य उसके प्रति बहुत स्नेह रखते थे, वे इसे अपना कर्तव्य समझते थे।

कभी गाँवमें कोई अन्धा या साधु-संत आ जाय तो वे स्वयं उनसे अपने घर भोजन करनेकी प्रार्थना करते और घर ले जाकर प्रेमसे भोजन कराते।

एक समय एक कुरूप व्यक्ति गाँवमें कहींसे आ गया। लड़कोंने उसके पीछे पड़कर बहुत परेशान किया, उसके तितर-बितर बाल, गड्ढे-जैसी आँखें, एक बड़ा-सा लोटा, अस्त-व्यस्त कपड़े, मैला और दुर्गन्धिवाला वह व्यक्ति पूरे गाँवमें घूम चुका। उसके पासतक कोई खड़ा होना नहीं चाहता था। कटे हुए ओठ उसकी भयंकरताको बढ़ा रहे थे। दोपहरतक तो गाँव छोड़कर चले जाने-जैसी उसकी स्थिति आ गयी। लड़कोंके द्वारा ही प्रधानाचार्यके कानोंतक यह बात पहुँची। वे चल पड़े उस कुरूप व्यक्तिके अन्वेषणमें। गाँवके बाहर वह भूखा-प्यासा बैठा हुआ था, वहाँ पहुँच गये। पहले तो वह इन्हें देखकर भयभीत हो गया कि कहीं ये भी मारने या सताने तो नहीं आ रहे हैं; परंतु इनके 'ओ भाई!' प्रेम-भरे शब्द सुनकर उसके मुखमण्डलपर प्रसन्नता दौड़ गयी।

समीप जाकर आचार्यने उसका हाथ पकड़ा और अपने घर भोजन करनेके लिये कहा। पूरे गाँवपर जो एक घड़ी पहले रोष व्यक्त कर रहा था, वह अब गाँवको आदरभरी दृष्टिसे देखने लगा। दोनों घर पहुँचे।

प्रधानाचार्यने उसे नहानेको गर्म पानी दिया। मानो घरपर कोई मेहमान आया हो। उसे नहलाया और पहननेको कपड़े दिये। इतना ही नहीं, प्रेमसे भोजन कराया और पाँच रुपये दिये। कोई परेशान न करे, इससे वे उसे गाँवके बाहरतक पहुँचाने गये।

यह सम्पूर्ण प्रसंग जब मैंने सुना तो मेरा मस्तक उन प्रधानाचार्यके प्रति स्वत: झुक गया और अनेक प्रश्नोंमें एक प्रश्न यह भी अधिक हो गया कि यदि 'सभी मनुष्य ऐसे ही बनें तो?'—**रमा यादव**

(४)

दयाकी मूर्ति सूनी गोदवाली माता

कुछ दिनों पूर्वकी बात है। राजस्थानकी भवानीमण्डी नगरीके एक सम्भ्रान्त गुजराती परिवारके दस वर्षीय बालकको द्रुतगतिसे जाती हुई एक ट्रकने कुचलकर उसके शवको मांसके लोथड़ोंमें परिवर्तित कर दिया। जनपथ रक्तरंजित हो गया।

ड्राइवर न्यायालयमें तलब हुआ। उसने अपनी पैरवी मुझे सौंपी थी।

न्यायालयमें मृतबालकके पिताके बयानका पहला वाक्य था कि हकीकत यह है कि इस मामलेमें ड्राइवरका कोई कसूर नहीं है। उस स्वर्गीय बच्चेकी भूल है, जिसने तेज आती हुई ट्रकके सामने दौड़कर सड़क पार करना चाहा था।

स्वर्गीय बच्चेके पिताका बयान पूरा नहीं होने पाया कि सर्वत्र शान्ति छा गयी और न्यायाधीशकी कलम रुक गयी। × × × × × ड्राइवर बरी हो गया।

पीछे मुझे यह बात मालूम हुई कि उस इकलौते पुत्रकी माँने अपने पति-(बच्चेके पिता)-से अदालत जाते समय कहा था कि 'मुन्ना इतने ही दिनोंके लिये मेहमान बनकर आया था। वह चला गया। ड्राइवरको सजा हो जानेपर भी वह अब नहीं लौट सकता। पर सजा होनेपर ड्राइवरके बेगुनाह बीबी-बच्चोंको दुःख भोगना पड़ेगा। मुन्ना दूसरोंके दुःखको देखकर द्रवित हो जाता था। हमें ऐसा कुछ भी नहीं करना चाहिये, जिससे उसकी आत्माको पीड़ा पहुँचे'.........यह कहते-कहते उस सूनी गोदवाली माँका गला रुँध गया और अन्तिम वाक्य कठिनाईसे इतना और कह सकी 'बस, इतना ही कहना है।'—**राजेन्द्रप्रसाद जैन**

(५)

पत्थरकी मूर्तिमें भी भगवान् हैं

स्वामी विवेकानन्दको पूरा विश्व जानता है। फरवरी, सन् १८९१ ई० में वे राजस्थानमें अलवरमें थे। वहाँके दीवान बहादुर शम्भूनाथजीने स्वामी विवेकानन्दके समक्ष मूर्तिपूजामें अविश्वास प्रकट करते हुए कहा कि पत्थरको पूजनेसे भगवान् नहीं मिलते। पत्थरकी मूर्ति महज पत्थर है।

इसपर स्वामी विवेकानन्दजीने दीवान बहादुर शम्भूनाथजीके कमरेमें टँगे हुए उनके महाराजके चित्रको दीवालपरसे उतारकर कहा—'यहाँपर महाराज नहीं हैं। यह केवल उनका चित्र है। आप इसपर थूक दीजिये।' बार-बार कहनेके बाद भी अलवरके महाराजके चित्रपर थूकनेकी हिम्मत दीवान बहादुरकी नहीं पड़ी।

फिर स्वामीजीने कहा—'जिस तरह आप अपने महाराजके चित्रको महाराज ही मानते हैं, उसी तरह हिन्दू-धर्म पत्थरकी मूर्तिको भी भगवान् ही मानता है और इसे आप भी मानें।'

स्वामीजीका अकाट्य उत्तर सुनकर दीवान बहादुर उनके चरणोंमें गिर पड़े।—**केदारनाथ 'सविता'**

(६)

बालक जार्ज वाशिंगटनकी सच्चाई

जार्ज वाशिंगटन अमेरिकाके एक किसानका लड़का था। वह जब छोटा था, तब एक दिन उसके पिताने उसे एक कुल्हाड़ी दी। उसे लेकर जार्ज बगीचेमें खेलने लगा। बगीचेमें जो पेड़ देखता, वह उसीपर कुल्हाड़ी चलाता और हँसता। उसके पिताने बड़ी कठिनतासे प्राप्त करके एक फलका वृक्ष लगाया था। जार्जने उसपर भी कुल्हाड़ी चला दी। इस प्रकार कुल्हाड़ीसे खेलकर वह खुशी-खुशी घर लौटा।

इधर उसका पिता बगीचेमें पहुँचा तो उसने उस फलके पेड़को कटा देखा। उसे बहुत दुःख हुआ। उसने मालियोंसे पूछा, पर किसीने भी पेड़ काटना स्वीकार नहीं किया। तब घर आकर जार्जसे पूछा। जार्जने कहा—'पिताजी! मैं खेल रहा था और पेड़ोंपर कुल्हाड़ी चला-चलाकर यह अजमा रहा था कि मुझसे पेड़ कटते हैं कि नहीं। उस पेड़पर भी मैंने ही कुल्हाड़ी मारी थी और वह उसीसे कट गया था।'

पिताने कहा—'बेटा! तुझे इस कामके लिये तो मैंने कुल्हाड़ी नहीं दी थी—परंतु तेरी सच्ची बातपर मैं बहुत खुश हूँ। इससे मैं तेरा कसूर माफ करता हूँ। तेरी सच्चाई देखकर मुझे बड़ी ही प्रसन्नता हुई है।'

यही जार्ज वाशिंगटन बड़ा होकर अमेरिकाका प्रख्यात प्रेसिडेंट हुआ था।

मनन करने योग्य

राष्ट्रद्रोहका फल

आधुनिक भारतके युगप्रवर्तक युद्धोंमें प्लॉसीके युद्धका नाम सर्वोपरि है। मात्र कुछ घण्टे चलनेवाले इस युद्धका परिणाम संसारके बड़े-से-बड़े युद्धोंके परिणामसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण था। इससे बंगालपर अँगरेजोंकी विजयका रास्ता खुल गया और अन्तमें सम्पूर्ण भारतपर अँगरेजोंके आधिपत्यका मार्ग भी प्रशस्त हो गया। २३ जून, सन् १७५७ ई० को हुए इस निर्णायक युद्धने यह भी निश्चित कर दिया था कि भारतपर अब फ्रांसीसियोंकी नहीं; बल्कि अँगरेजोंकी हुकूमत होगी। इस युद्धमें एक ओर बंगालके नवाब सिराजुद्दौलाकी विशाल वाहिनी थी, जिसका साथ फ्रांसीसी सेना भी दे रही थी; परंतु जिसके अपने ही सेनापति मीरजाफर और राय दुर्लभ अपने स्वामी और मातृभूमिसे विश्वासघातकर अँगरेजोंसे मिल गये थे, दूसरी ओर क्लाइवके नेतृत्वमें अँगरेजोंकी तुलनात्मक रूपसे छोटी सेना थी, परंतु थी प्रशिक्षित एवं अनुशासित। क्लाइव स्वयं भी बड़ा ही कूटनीतिज्ञ था, उसने अमीचन्द नामक कलकत्ताके एक धनी किंतु धूर्तसेठके माध्यमसे सिराजुद्दौलाके दो सेनापतियों—मीरजाफर और राय दुर्लभको अपनी ओर मिला लिया। अपने स्वामी और मातृभूमिसे विश्वासघात करनेके बदलेमें मीरजाफरको बंगालकी नवाबी, राय दुर्लभको दीवानी और अमीचन्दको सिराजुद्दौलाके खजानेका एक भाग देनेका वादा अँगरेजोंकी तरफसे किया गया। व्यक्तिगत अपमानका बदला लेनेके लिये जगतसेठ नामसे विख्यात महताबचन्द भी इस षड्यन्त्रमें शामिल था। फलतः जब युद्ध प्रारम्भ हुआ तो सिराजुद्दौलाके दो सेनापति मीरमदन और मोहनलाल, जो तोपखानेके अधिकारी थे, उन्होंने तो युद्ध किया, परंतु मीरजाफर और राय दुर्लभ खड़े ही रहे, उन्होंने अपनी सेनाओंको युद्ध करनेका आदेश ही नहीं दिया। इतनेपर भी मीरमदन और मोहनलालकी तोपें अँगरेजी सेनापर कहर ढा रही थीं और आधे घण्टे बाद ही क्लाइवको अपनी सेना पीछे करनी पड़ी। उसने रात्रिमें आक्रमण करनेका निश्चय किया, पर दुर्भाग्यवश मीरमदनको गोली लग गयी और उसकी मृत्यु हो गयी। इस परिस्थितिमें नवाब सिराजुद्दौलाने मीरजाफरसे आगेकी रणनीतिके विषयमें सलाह की तो मीरजाफरने कहा कि 'हुजूर! मैं तो कहूँगा कि अपनी भी सेनाएँ पीछे हटा ली जायँ, आगे हुजूरकी मर्जी।' इस बातका विरोध करते हुए मोहनलालने यह कहते हुए अपनी तोपें चालू रखीं कि अभी थोड़ी देरमें ही अँगरेजी सेना भाग जायगी, हम निर्णायक स्थितिमें हैं, पर मीरजाफरके प्रभावमें आकर नवाबने उसे जबर्दस्ती वापस लौटनेका हुक्म दिया। मीरजाफर और राय दुर्लभने अपनी सेनाएँ वापस मोड़ लीं और वे वापस लौटने लगे। यह देखकर नवाबकी अन्य सेनाओंके सैनिक भी भागने लगे। मजबूरन मोहनलाल और फ्रांसीसी सेनाकी टुकड़ीको भी वापस लौटना पड़ा।

इस प्रकार जीती हुई बाजीको हारकर जब सिराजुद्दौला लौटा तो मुर्शिदाबादमें मीरजाफरके पुत्र मीरनने उसकी हत्या कर दी। इस प्रकार विश्वासघाती और देशद्रोही मीरजाफर बंगालका नवाब बन गया, पर वह नवाब कम अँगरेजोंका कठपुतली ही अधिक रहा। उसे एक करोड़ सतहत्तर लाख रुपये हर्जाना और एक करोड़ बारह लाख पचास हजार रुपये सेनाका खर्च देना पड़ा, साथ ही चौबीस परगनेकी सारी मालगुजारीका अधिकार कम्पनीको सौंप देना पड़ा। इस प्रकार उसने बंगाल-जैसे समृद्ध राज्यको दिवालिया बना दिया।

इस स्वामिद्रोह, विश्वासघात और देशके प्रति गद्दारी-जैसे पापपूर्ण कृत्यका परिणाम यह हुआ कि मीरजाफरके पुत्र मीरनके ऊपर आकाशीय बिजली गिरी और वह मर गया। राय दुर्लभ कुछ समयतक तो दीवान रहा, पर बादमें मीरजाफरसे अनबन हो गयी, उसकी जब मृत्यु हुई तो लोग उसे विस्मृत कर चुके थे। अमीचन्दको अँगरेजोंने जाली सन्धिपत्र दिया था, जिसका उसे प्लासीके युद्धके बाद ज्ञान हुआ और वह निराश एवं पागल होकर मर गया। मीरजाफरके बाद नवाब बने मीरकासिमको जगतसेठकी वफादारीपर सन्देह था, इसलिये उसने उसका कत्ल करा दिया। अन्तमें मीरजाफर कुष्ठ रोगसे पीड़ित होकर अपने पापकर्मोंको भोगते हुए मरा।—**जयदीप सिंह**

गीताप्रेस गोरखपुरसे प्रकाशित सूर-साहित्य
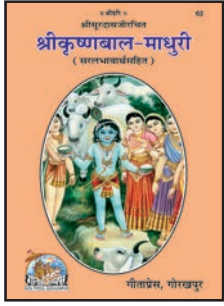
श्रीकृष्ण-बाल-माधुरी (सरल भावार्थसहित)—इस पुस्तकमें भगवान् श्रीकृष्णके शिशुलीलासे सम्बन्धित ३३५ पदोंका संकलन किया गया है। पुस्तकके अन्तमें पदोंमें आये हुए मुख्य कथाके मर्मस्पर्शी प्रसंग भी दिये गये हैं।

कोड 62 मूल्य ₹ २८
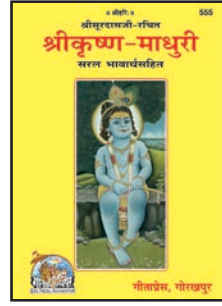
श्रीकृष्ण-माधुरी (सरल भावार्थसहित)—इस पुस्तकमें ३४३ पदोंका संग्रह किया गया है। इन पदोंमें भगवान् श्रीकृष्णके बाल, कुमार एवं किशोरस्वरूपकी अनुपम छटा, मुरलीकी मधुरिमा एवं उसके मोहक प्रभावका सजीव चित्रण किया गया है।

कोड 555 मूल्य ₹ ३०
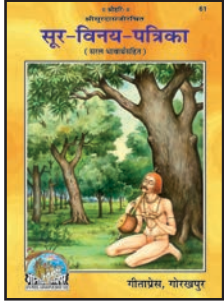
सूर-विनय-पत्रिका (सरल भावार्थसहित)—३०९ पदोंके इस संग्रहमें वैराग्य, संसारकी अनित्यता, विनय, प्रबोध तथा चेतावनी आदि विषयोंका वर्णन है। पुस्तकमें आये हुए मुख्य कथा-प्रसंग पुस्तकके अन्तमें परिशिष्टके रूपमें दिये गये हैं।

कोड 61 मूल्य ₹ ३५
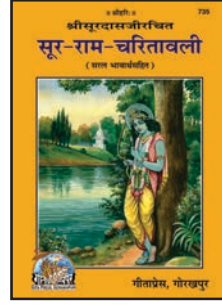
सूर-रामचरितावली (सरल भावार्थसहित)—प्रस्तुत पुस्तकमें श्रीसूरदासजीके रामचरित-सम्बन्धी पदोंका संग्रह है। इन पदोंमें भगवान् श्रीरामके अनुकरणीय आदर्श लीलाओंका बहुत ही मौलिक एवं रसमय वर्णन किया गया है।

कोड 735 मूल्य ₹ ३०
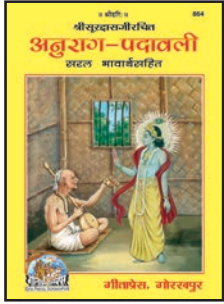
अनुराग-पदावली (सरल भावार्थसहित)—गोपीप्रेम नैसर्गिक एवं नि:स्वार्थ प्रेमका अनुपम उदाहरण है। इस पुस्तकमें भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंके प्रेमका श्रीसूरदासजीके द्वारा विभिन्न पदोंके रूपमें अद्भुत चित्रण किया गया है।

कोड 864 मूल्य ₹ ३५
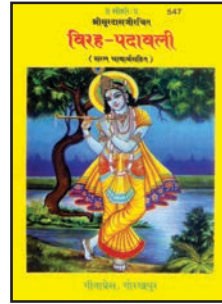
विरह-पदावली (सरल भावार्थसहित)—इस पुस्तकमें श्रीसूरदासजीके द्वारा विरचित गोपी-विरह-सम्बन्धी ३२५ पदोंका संग्रह है। इसमें अक्रूरजीके साथ श्रीकृष्णके मथुरागमनके समय यशोदा एवं गोपियोंकी विरह-दशाका वर्णन है।

कोड 547 मूल्य ₹ ३०

नवीन प्रकाशन—अब उपलब्ध—ज्ञानेश्वरी पारायण प्रत (कोड 2010) मराठी, ग्रन्थाकार— संत ज्ञानेश्वरकी अनुपम कृति ज्ञानेश्वरी मराठी भक्तोंके लिये अब ग्रन्थाकारमें भी सुलभ हो गयी है। मूल्य ₹१५० (**कोड 859**) मूल-मझला मूल्य ₹७० और (**कोड 748**) मूल-गुटका आकारमें मूल्य ₹४५

श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके कुछ पत्रोंके संग्रह

कोड	पुस्तकका नाम	मूल्य ₹
353	**लोक-परलोक-सुधार**—६८ पत्रोंका संग्रह	२०
354	**आनन्दका स्वरूप**—६५ पत्रोंका संग्रह	२०
355	**महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर**—९३ पत्रोंका संग्रह	३०
356	**शान्ति कैसे मिले ?**—९४ पत्रोंका संग्रह	२५
357	**दु:ख क्यों होते हैं ?**—	२५

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके कुछ पत्रोंके संग्रह

कोड	पुस्तकका नाम	मूल्य ₹
277	**उद्धार कैसे हो ?**—५१ पत्रोंका संग्रह	१०
278	**सच्ची सलाह**—८० पत्रोंका संग्रह	१२
280	**साधनोपयोगी पत्र**—७२ पत्रोंका संग्रह	१०
281	**शिक्षाप्रद पत्र**—७० पत्रोंका संग्रह	१५
282	**पारमार्थिक पत्र**—९१ पत्रोंका संग्रह	१५

gitapressbookshop.in से गीताप्रेस प्रकाशन online खरीदें।

प्र० ति० २०-९-२०१५
रजि० समाचारपत्र—रजि०नं० २३०८/५७ पंजीकृत संख्या—NP/GR-13/2014-2016
LICENSED TO POST WITHOUT PRE-PAYMENT | LICENCE No. WPP/GR-03/2014-2016

'कल्याण' वर्ष ९० (जनवरी २०१६ ई०)-का विशेषाङ्क—'गंगा-अङ्क'

भगवती गंगाकी कीर्तिकथाका अनन्त विस्तार है। गंगा हमारे कर्मोंकी साक्षी हैं। गंगाकी गाथा भारतीय सनातन संस्कृति एवं सभ्यताकी गौरवगाथा है। त्रैलोक्यमें जितने तीर्थ हैं, वे सब गंगामें स्थित हैं। गंगाके स्मरणमात्रसे समस्त कर्म-बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। गंगाका स्मरण, दर्शन, स्पर्श, मार्जन, स्नान (अवगाहन) तथा पान अमोघ फलदायी है। गंगा हमारी अस्मिताकी पहचान हैं, न केवल हिन्दू, अपितु सभी धर्मावलम्बी गंगाका आदर करते हैं। विडम्बना है कि ऐसी लोकोत्तर महिमा तथा सर्वविध उपयोगिता होते हुए भी वर्तमानमें न केवल गंगा, अपितु यमुना, नर्मदा आदि पुण्यतोया नदियाँ, तीर्थ, वन, पर्वत—यहाँतक कि समूचा पर्यावरण, समस्त प्रकृति ही प्रदूषणसे व्याप्त होती जा रही है। इसमें हेतु चाहे जो भी हो—यह बड़ी ही दुःखद, चिन्ताजनक एवं सोचनीय स्थिति है। ऐसा न हो, इसके लिये सभीको विशेष रूपसे सचेष्ट रहनेकी आवश्यकता है।

इन्हीं सब बातोंको दृष्टिगत रखते हुए इस वर्ष सन् २०१६ ई० के विशेषाङ्कके रूपमें **'गंगा-अङ्क'** प्रकाशित करनेका निर्णय लिया गया है, इसमें मुख्यरूपसे वर्तमानमें हो रही पर्यावरणकी दुर्दशा, उपभोक्तावादके दुष्परिणाम, तीर्थोंकी विकृति, नदियोंका प्रदूषण, देवनदी गंगाका तीर्थत्व, उसका धार्मिक तथा आध्यात्मिक महत्त्व, आरोग्यप्राप्तिमें गंगाकी उपयोगिता, गंगावतरणके रोचक आख्यान, गंगोपासनाका स्वरूप, गंगाका भूगोल, गंगाजलका वैशिष्ट्य, गोमुखसे गंगासागरतक गंगायात्रा, गंगाजल और विज्ञान, गंगाके यशोगायक, वर्तमानमें गंगाकी दशा और उसके निवारणके उपायोंकी समीक्षा एवं इस सम्बन्धमें महत्त्वपूर्ण सुझाव भी प्रस्तुत करनेका विचार है। कल्याणका यह विशेषाङ्क—**'गंगा-अङ्क'** भी पिछले विशेषाङ्कोंकी भाँति सर्वजनोपयोगी और लोकप्रिय होगा—ऐसी आशा है।

वार्षिक-शुल्क— ₹ २००, ₹ २२० (सजिल्द)। पञ्चवर्षीय-शुल्क— ₹ १०००, ₹ ११०० (सजिल्द)

Online सदस्यता-शुल्क-भुगतानहेतु-www.gitapress.org पर **Online Magazine Subscription** option को click करें।

व्यवस्थापक—'कल्याण-कार्यालय', पो०—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

गीता-दैनन्दिनी—गीता-प्रचारका एक साधन

(प्रकाशनका मुख्य उद्देश्य—नित्य गीता-पाठ एवं मनन करनेकी प्रेरणा देना।)

व्यापारिक संस्थान दीपावली/नववर्षमें इसे उपहारस्वरूप वितरित कर गीता-प्रसारमें सहयोग दे सकते हैं।

गीता-दैनन्दिनी (सन् २०१६) अब उपलब्ध—मँगवानेमें शीघ्रता करें।

पूर्वकी भाँति सभी संस्करणोंमें सुन्दर बाइंडिंग तथा सम्पूर्ण गीताका मूल-पाठ, बहुरंगे उपासनायोग्य चित्र, प्रार्थना, कल्याणकारी लेख, वर्षभरके व्रत-त्योहार, विवाह-मुहूर्त, तिथि, वार, संक्षिप्त पञ्चाङ्ग, रूलदार पृष्ठ आदि।

पुस्तकाकार—विशिष्ट संस्करण (कोड 1431)—दैनिक पाठके लिये गीता-मूल, हिन्दी-अनुवाद, मूल्य ₹ ७०

सुन्दर प्लास्टिक आवरण (कोड 503)—गीताके मूल श्लोक एवं सूक्तियाँ मूल्य ₹ ५५

पॉकेट साइज— सुन्दर प्लास्टिक आवरण (कोड 506)— गीता-मूल श्लोक, मूल्य ₹ ३०

नवम्बर मासमें उपलब्धि सम्भावित—बँगला (**कोड** 1489), ओड़िआ (**कोड** 1644), तेलुगु (**कोड** 1714) पुस्तकाकार—विशिष्ट संस्करण, प्रत्येकका मूल्य ₹ ७०

मासिक 'कल्याण' kalyan-gitapress.org पर निःशुल्क पढ़ें।